हिमाचल का जनजीवन एवम् आस्थाएं

प्रेम पखरोलवी

यशपाल साहित्य परिषद् (रजि०)
नादौन जिला हमीरपुर हि० प्र०-177033

सर्मपित

श्रद्धेया मातृश्री स्वर्गीया श्रीमती वासन्ती देवी
को श्रद्धा सुमनों की निराकार
सुवासितांजलि

—प्रेम पखरोलवी

आमुख

श्री प्रेम पखरोलवी से पाठक गत दो दशकों से सुपरिचित हैं। वे अबाधगति से लिखते रहे हैं और उसी गति से इनका लेखन जारी है। परिस्थितियों का बदलाव उन पर कोई प्रभाव नहीं जमा पाया है। यही कारण है कि राजनीति में प्रवेश करने के पश्चात् भी उनकी साहित्य-साधना यथावत् जारी है। साहित्यगत विविध विद्याओं पर इनके लेख अन्यान्य पत्र-पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित होते रहे हैं। अब भी उनकी साहित्यिक गति पूर्ववत् जारी है। अपने सक्रिय राजनैतिक जीवन में व्यस्त रहने के बावजूद भी ये सारस्वत-साधना के लिए समय निकाल ही लेते हैं। वस्तुत: लेखन उनकी आत्मिक खुराक और जीवन का पथ प्रदर्शक।

उनके अनेक ललित निबन्ध और व्यंग्यात्मक शैली में प्रकाशित लेख मार्मिक, भावात्मक, कलात्मक तथा स्वविषय का साकार चित्र सहृदय पाठक के सामने उभारने में सक्षम हैं। ललित निबन्ध चिन्तनपूर्ण हैं, जो लेखक की तीक्ष्ण जीवन-दृष्टि को उजागर ही नहीं करते वरन् पाठक को भी वैसी दृष्टि अपनाने के लिए प्रेरित करते हैं। उनके जीवनीवरक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि से सम्बद्ध लेख उनकी बहुज्ञता तथा गहन अध्ययन के जीवन्त प्रमाण हैं। व्यंग्य विधा' का सशक्त और समृद्ध रूप भी हमें उनके विविध व्यंग्य लेखों में दृष्टिगोचर होता है। जब समाज में कथनी और करनी का अन्तर आता है, विसंगतियां बढ़ती हैं तो व्यंग्य की विधा पनपती है। जब व्यंग्यकार के अभीष्ट जीवन तथा वास्तविक जीवन के बीच की खाई चौड़ी होती है तो उस असामंजस्य के एहसास से प्रेरित होकर वह सामाजिक, विसंगतियों को अपने व्यंग्य-प्रहारों का लक्ष्य बनाता है। 'हिम प्रस्थ' और 'गिरिराज' साप्ताहिक पत्रिकाओं में उनके इसी प्रकार के व्यंग्य लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं।

उनकी प्रस्तुत पुस्तक 'हिमाचल का जनजीवन एवम् आस्थाएं' में बाईस निबन्ध संगृहीत हैं। इस संग्रह में संकलित निबन्धों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—(क) हिमाचल का जनजीवन और (ख) आस्थाएं।

'हिमाचल का जनजीवन' वर्ग के अन्तर्गत निबन्धों में किन्नर समाज में नारी, किन्नरों की धरती, गद्दी जाति एवं धार्मिक संस्कार, कुल्लू की प्राचीन पंचायत मलाणा, गाती धरती कांगड़ा की, कांगड़ा के धार्मिक गीत, सुजानपुर की होली आदि निबन्ध

परिगणित किए जा सकते हैं। 'आस्था' विषयक निबन्धों में हिमाचली जनमानस में नारसिंह, महासू-आस्था, श्री गुल-आस्था, जुंगा-आस्था, सिरमौर जनपद में देवी-पूजन, कुल्लू के प्रसिद्ध मन्दिर, कांगड़ा के बालशंकर भगवान् बालकरूपी आदि निबन्धों को समाहित किया जा सकता है। यद्यपि जीवन और आस्था में विभाजित रेखा खींचना कठिन है तथापि अध्ययन की सुविधा के लिए यह वर्गीकरण स्वीकार्य हो सकता है। इन निबन्धों में पाठक को न केवल हिमाचल की समग्र झांकी के दर्शन ही होंगे अपितु इस प्रदेश के सम्बन्ध में सामान्य जानकारी प्राप्त करने के इच्छुक जिज्ञासुओं के लिए भी यह रचना निःसंदेह सहायक सिद्ध होगी।

परिषद् इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी-प्रकाशन की शृंखला में पाठकों के हाथों में प्रस्तुत रचना को समर्पित करते हुए हर्ष का अनुभव करती है क्योंकि परिषद् का यह भी एक उद्देश्य है कि हिमाचल के लेखकों की महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित सामग्री तथा कृतियों को प्रकाश में लाकर साहित्य-जगत् की श्रीवृद्धि में अपना योगदान देना है। परिषद् के विविध प्रकाशनों के अतिरिक्त गत वर्ष स्व० श्री बिशनदास गुलशन नादौनवी का अप्रकाशित नाटक 'इन्साफ' भी परिषद् ने प्रकाशित किया है।

श्री प्रेम पखरोलवी की प्रस्तुत रचना के सम्पादन व प्रकाशन में परिषद् का हर दृष्टि से सक्रिय सहयोग रहा है। पखरोलवी सदृश साहित्यकार से परिषद् को भावी अनेक आशाएं हैं। अस्तु, हम उनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए आशा करते हैं कि वे अपनी लेखन-शक्ति को उच्च एवं उदात्त लक्ष्य की पूर्ति में नियोजित करते हुए भारती के भण्डार में इसी प्रकार अभिवृद्धि करते रहेंगे।

डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा
अध्यक्ष

डॉ० रत्नचन्द शर्मा
सचिव
यशपाल साहित्य परिषद्
नादौन-177033
जि० हमीरपुर (हि० प्र०)

प्राक्कथन

संस्कृति वह प्रक्रिया है जिससे किसी देश के उत्तम लोगों के सामूहिक व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इस व्यक्तित्व के द्वारा लोगों को जीवन और जगत के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण मिलता है। लेखक या कलाकार इस अभिनव दृष्टिकोण के साथ निज प्रतिभा का सामंजस्य करके सांस्कृतिक मान्यताओं का मूल्यांकन करते हुए उसे सर्व-ग्राह्य बनाता है। यही उसका कर्म है, यही उसका कमाल है। उसके उक्त सृजन में एकान्त-चिन्तन और एकान्त साधना के अतिरिक्त लोगों के साथ उसके अन्तरंग सम्बन्धों को भी पर्याप्त दखल प्राप्त होता है। यों व्यक्तित्व तो व्यक्तियों का ही हुआ करता है, मगर जहां व्यक्ति एक साथ काल विशेष व स्थान विशेष में रहते हैं, उस जगह का भी व्यक्तित्व हुआ करता है। उदाहरण के तौर पर हमारे यहां यह उक्ति आम लोगों की जुबान पर है कि "हिमाचल देव भूमि है"। इससे स्पष्ट है और बड़े गौरव की बात है कि हमारी हिमाचली संस्कृति आरंभ से ही देव प्रधान रही है। जब संस्कृति ऐसी है तो स्पष्ट है कि हम लोग देवी-देवताओं की अनुकंपा के अधीन ही सफल जीवन गुजारने की इच्छा करते हैं।

हमारा समाज और साहित्य दैवी-कृपा और दैवी-प्रकोपों से सदा प्रभावित रहा है। हमारे देवी-देवता भी इतने मनमौजी और उदारचेता हैं कि कहीं-कहीं तो यह भ्रम उपजने लगता है कि मानों देवी-देवताओं का मानवीकरण हो गया हो। हमारा इत्ता-सा मनोविज्ञान कारगर सिद्ध माना जा सकता है। हमारे सामाजिक ढांचे में लोगों की देव-आस्था हमेशा से हावी रही है। यह विचित्र बात नहीं है कि यहां हर गांव का अपना अलग-अलग देवता है। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं तो हर कुल का ही अपना देवता है। जिसे पहाड़ी भाषा में 'कुलज' के लोकप्रिय नाम से जाना-पहचाना व सत्कारा जाता है। घर में किसी तरह का कोई लौकिक अथवा दैवी प्रकोप या इति व्यापने लगती है तो भोले-भाले धर्मपरायण परिवार के सदस्य पहली फुर्सत में कुल देवता के देवालय, मठ-मढ़ी, मन्दिर अथवा ठाकुरद्वारा में पहुंचकर देवी या देवता की गुहार लगाते हैं तथा अजाने में उनसे यदि कोई भूल-चूक अथवा अवहेलना हो गई हो तो उसके तईं सच्चे मन से पश्चात्ताप और आगे से सावधान रहने की प्रतिज्ञा भी लेते हैं। एतदर्थ वे किसी भी तरह का आर्थिक हरजाना भरने को शुद्ध मन से प्रस्तुत रहते हैं

और प्रातः 'कंजकें,' निर्धन ब्राह्मण या दीनहीनों को भोजन-वस्त्र तत्काल बांटते हैं। इस आणविक युग में कुछ पढ़े-लिखे और पाश्चात्य संस्कृति से पराभूत लोग इन क्रिया-कलापों को भले ही एक ढकों सला मानने लगे हैं, मगर जब उन पर बीतती है तो इस लेखक का व्यक्तिगत अनुभव है कि वे बाबा बालकनाथ, बालकरूपी, बाबा बड़भाग सिंह, चामुण्डा माता, ज्वाला मैया, मां बज्रेश्वरी, माता चिन्तपूरनी आदि में लम्बी सुर्ख अथवा उस देवता को प्रिय रंग की ध्वजा उठाए उन्हें रिझाने-मनाने पहुंचते हैं और बड़े बूढ़ों से झिड़कियां खाने पर सीधी राह आते हैं।

मजे की बात यह है कि चारों तरफ से डॉक्टर, वैद्य, तान्त्रिक और चेला आदि के हजूर में अलख जगाने और धन एवम् समय बर्बाद कर लेने के बाद जब मैया की शरण में पहुंचते हैं तो तुरन्त राहत महसूस करते हैं। लौटते हुए सहसा दुर्गा सप्तशती का यह प्रसिद्ध श्लोक बोलते हैं—

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

सच तो यह है कि मां अपने कष्ट पीड़ित बेटे-बेटियों और श्रद्धालु-भक्तों को कष्ट में ज्यादा देर तक कैसे देख सकती है। वह निज कृपा अथवा अनुकम्पा का शीतल प्रभाव तुरन्त अपने भक्तों को दिखलाती है जिसे वे मां का शुभाशीष या वरदान समझकर खुशी-खुशी घर लौटते हैं। इतना ही नहीं, रोग-शोक से तो मुक्ति मिलती ही है, दैव-कृपा से खोया हुआ धन और चौपट होता व्यापार भी पुनः पनपने लगता है। माता अपने परि-जनों (श्रद्धालुओं) को कभी भी दुःख में नहीं देख सकती। उनके निरंकुश या प्रमादी होने पर अपनी सत्ता का आभास अवश्य उन्हें करवाती है। विचित्र विडम्बना है हमारे भोले-भाले पर्वतीय समाज की कि सुख-समृद्धि में प्रायः अपने इष्ट देवी-देवता को भी वे भूल जाते हैं। ऐसे ही धर्म भीरू लोगों की नियति को लक्षित करके कहा गया होगा—

दुख में सुमिरन सब करैं, सुख में करै न कोय।
जो सुख में सुमिरन करै, दुख काहे को होय॥

बड़ी अनूठी है इनकी यह आस्था अपने देवी और देवताओं में कि इसे न जाने कितनी बार और कितने यत्नों से हृदय से उखाड़ फेंकने के उपक्रम हुए हैं। मगर यह बारह वर्ष तक अनावृष्टि की घाम झेलने पर भी दूब की जड़ की नाईं हरी की हरी ही रहती है। पानी की एक बूंद पा जाने पर फिर अपनी बिसात बिछाती है और उन भ्रमित एवं शंकित निगाहों को भौंचक्का कर देती है जो यह समझ बैठी थीं कि यहां सब कुछ नष्ट हो गया है, कहीं कोई डाल, कोई तिनका, कोई पत्ता और कोई राशि-वनस्पति शेष नहीं रह गई है। यह सब क्या है? यह चमत्कार है, भोले-भाले लोगों की पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारम्परित सतत् प्रवाहित अन्तःसलिला सरिता का जो एक समय के लिए सरस्वती के समान कहीं गुम हो गई थी, मगर पिपासु एवं जिज्ञासु भक्तों के प्रकट होते ही उनको ताप-संताप से तत्काल मुक्त कर देती है। निज करुणा का शीतल जल-पान और स्नान तुरन्त कराकर उन्हें आशावान् ही नहीं वरन बलवान बनाकर घर लौटने की प्रेरणा देती

है। भक्त समझते हैं कि दुःख मिथ्या है, उसे भोगना पड़ता है। इस आशा व आस्था के साथ कि हर घोर से घोर कष्टदायिनी रात्रि का भोर निश्चित है। इस आशा के साथ जब देवी और देवता की करुणा किंवा दया-ममता उसमें जुड़ जाती है, तो वह भोर सचमुच सुहावनी भोर में परिवर्तित हो जाती है। हम लोग मानते हैं कि सुख और दुःख धूप-छांव की तरह हमारे जीवन में आते-जाते हैं। सामाजिक तौर पर दुःख-क्लेश के प्रति निष्करुण भाव से उदासीन या तटस्थ रहते हैं, यह मानकर भी कि दुःख तो असत्य है, माया है, मगर व्यक्तिगत रूप से हम दान-पुण्य करते रहते हैं और यह मानते हैं कि "दया धर्म का मूल है।"

हमारे ये देवी-देवता हमें हमेशा करुणा के आगार और दया के सागर प्रतीत होते हैं। हम उनके समक्ष केवल न्याय प्राप्ति हेतु ही नहीं जाते वरन् इस भोली चाहत और निगूढ़ श्रद्धा एवं निष्ठा को सहेज कर उनके द्वार पर पहुंचते हैं कि यदि हमने कोई पाप या अपराध भी किया है तो भक्तालु देवी मां अपने करुणा का वरदान देते हुए हमें क्षमादान अवश्य देगी। यह एक या दो पीढ़ी की बात नहीं, युग-युगान्तरों से यह परम्परा चलती और बढ़ती आई है। अब तो स्थिति यहां तक आ पहुंची है कि प्रदेश के बाहर के फिल्म-निर्माता हिमाचल के किसी देवी या देवता के पौरुष और चमत्कार की पृष्ठभूमि में अपनी कुछ धार्मिक फिल्मों का निर्माण करते हैं और उसमें देवी के स्तवन स्वरूप, माता की भेंट (स्तुति-गान) को संगीत में बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत करते हैं। शायद वे समझते हैं कि यह वह मन्दिर है, जहां पर हाजिरी लगवाने से हर क्लेश का निवारण होता है। हर असंतोष का समाधान मिलता है और हर मन का संताप मिटता है। सारतः यह कहना अधिक सच है कि यहां जो भी खाली हाथ आता है, वह अपनी मुरादों की झोलियां भरकर घर लौटता है। इस द्वार से निर्धन को धन मिला है, भूखों को अन्न, अशरण को शरण और निःसन्तान को सन्तान। कैसी है यह सरल हिमाचली जनता की आस्था! जिसे अपने मन में संजोए ये श्रद्धालु अपने इष्ट देवता के आगे नत-मस्तक होते हैं। आज के पढ़े-लिखे भी धर्मपरायणता से न सही धर्मभीरुता से त्रस्त होकर अपने इष्ट देव के देव-स्थान पर पहुंचते हैं।

अपने बहुरंगे आंचल में अनेक आस्थाओं को समेटे हुए हिमालय की गोद में बसा हुआ यह प्रदेश किसी भी देशी पर्यटक या यात्री के लिए हजारों आकर्षण लिए हुए है। हम हिमाचलवासियों के लिए तो हमारा यह पहाड़ी प्रदेश हिमालय की तरह भारत का सिरमौर सरीखा मालूम पड़ता है। इसलिए हम सबके मन में इसके प्रति विशेष श्रद्धा एवं आस्था है, रुचि है और प्यार है। हमारा यह प्रान्त मूलतः ग्रामीण प्रदेश है। ले-देकर एक ही नगर है---यानी इसकी राजधानी शिमला। सब जानते हैं कि आज जो हिमाचल है इसका असली भौगोलिक रूप वह नहीं है जो कभी इसकी रचना के समय था। हां, तब तो इसमें केवल चम्बा, मण्डी, सुकेत, सिरमौर और उन बहुत-सी लघु रियासतों को जिन्हें ब्रिटिश शासनकाल में शिमले के पहाड़ी राज्य (शिमला हिलस्टेट्स) के नाम से जाना जाता था, शामिल थीं। तब इसमें बिलासपुर और नालागढ़ की

रियासतें नहीं मिलाई गईं थीं। वह भाग भी हिमाचल में नहीं था, जो प्रथम नवम्बर, 1966 ई० को पंजाब के पहाड़ी इलाकों के विलय के परिणामस्वरूप इस प्रान्त के साथ जोड़ा गया। आज का हिमाचल प्रदेश प्रगति के कितने ही सोपान पार कर चुका है। भौगोलिक दृष्टि से एक तरफ यह प्रदेश तिब्बत से मिला हुआ है और दूसरी ओर जम्मू काश्मीर से। असल में जम्मू वाला हिस्सा हिमाचल से ज्यादा मिला हुआ है। पाण्डवों की संस्कृति वाला हिमाचल आज भी वैदिक काल की शम्बरों की संस्कृति से अपना सम्बन्ध रखता है और आज प्रगति के नए द्वार खुलने के फलस्वरूप आधुनिक और पाश्चात्य सभ्यता के परिवेश भी यत्र-तत्र दिखाई पड़ जाते हैं। फिर भी कुल मिलाकर हिमाचलियों का खान-पान, इनकी वेश-भूषा, रहन-सहन और धार्मिक क्रिया-कलाप खुद की अलग पहचान और छवि रखते हैं।

मैंने एक सरल प्रयास किया है इन बाईस निबन्धों में खुद को अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने का। इन लेखों का परिवेश हिमाचल प्रदेश का जनजीवन और उसकी आस्थाएं हैं। ये लेख एक शोध नहीं हैं। एक जिज्ञासु मन की ललक अवश्य इनमें देखी जा सकती है जो प्रदेश के विभिन्न स्थानों और वहां पर आबाद लोगों को जानने, समझने और उनमें घुलमिल जाने को उत्सुक रहती है। यदि ये लेख शोध की परिधि में आते तो कहता कि मैंने उन अध्ययनाधीन जगहों और वहां के लोगों से पूर्ण परिचय हासिल कर लिया है। मगर असल में ऐसा नहीं है। संकलित निबन्धों में जिस कदर सामग्री प्रस्तुत की गई है, वह एक तरह से पल्लवग्राही ज्ञान की देन कही जा सकती है। इसलिए भी कि लोगों के आचार-विचार, आहार-परिधान, क्रिया-कलाप एवं उनकी संस्कृति को अधीन कर पाना काफी श्रमसाध्य काम हैं। ये लेख आज से बीस वर्ष पहले (मेरे लेखन) काल-खण्ड को समाहित किए हुए हैं। ये समय-समय पर विभिन्न स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। हो सकता है कि इनमें से कुछ एक पर सुधी पाठकों की पारखी निगाह पहले पड़ चुकी हो।

मेरे ये सब लेख यत्र-तत्र बिखरे पड़े थे और प्रकाशित होने के बाद निरुपयोगी से हो रहे थे। मेरे कुछ अन्तरंग मित्रों की कीमती सलाह रही कि इनको पुस्तकाकार में लाया जाना चाहिए। मगर कुछ प्रमादवश, कुछ राजनीतिक उलझनों के चलते रहने के कारण कोई राह निकल नहीं पड़ रही थी कि इन्हें संकलित किया जाता और पुस्तक के आकार में आप सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता। विचित्र संयोग और परम सौभाग्यवश यह सुभीता भी हो गई। मेरे परम मित्रों के सहयोग से यशपाल साहित्य परिषद्, नादौन के माध्यम से आज मैं इन निबन्धों को एक संकलित कृति के रूप में प्रस्तुत कर रहा हूं।

मैंने इन लेखों के प्रणयन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अनेक ग्रन्थों की सहायता भी ली है। उनमें ग्लौसरी ऑफ दि ट्राइबस एण्ड कासट्स, जालन्धर-पीठ दीपिका, कांगड़ा गजेटियर आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन-सहयोग एवं प्रकाशन में यशपाल साहित्य परिषद् के कर्मनिष्ठ और साहित्य-सेवारत सरस्वती के उपासकों ने जिस लगन और तत्परता से इस

कार्य को सम्पन्न किया है, उसके लिए मैं उनका सदैव ऋणी रहूंगा। परिषद् के इस अमूल्य सहयोग के बिना शायद मेरी यह साध इतनी जल्दी पूरी न होती।

पुस्तक के बाह्य साज-सज्जा के लिए मैं श्री कुंवरसिंह इन्द्रप्रस्थ प्रैस (सी० बी० टी०) का हृदय से आभारी हूं। श्री अमरनाथ शर्मा सी० बी० टी० का धन्यवाद करना तो एक औपचारिकता मात्र होगी। मैं हृदय की गहराइयों से उनके प्रति आभार व्यक्त करना एक पुनीत कर्तव्य समझता हूं, क्योंकि इस पुस्तक के प्रकाशन में श्री शर्मा ने व्यक्तिगत रुचि लेकर इसे शीघ्र प्रकाशित करने में जो दौड़-धूप की है, उसके लिए मैं इनका सदैव ऋणी हूं। मेरे इस प्रयास में श्रीमती प्रेम पखरोलवी का अद्वितीय सहयोग रहा है तथा चिरंजीवी पवन पखरोलवी ने मुझे समय-समय पर मित्रवत् उचित राय दी है। ये दोनों परिजन प्रशंसा के पात्र हैं।

आशा है कि हिमाचल की संस्कृति की एक झलक के दर्शनार्थियों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी।

निर्जला एकादशी
संवत् 2044 विक्रमी

— प्रेम पखरोलवी

अनुक्रम

परिषद् के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. आचार्य प्रह्लादानन्द कृत जालन्धर पीठ दीपिका

(हिन्दी अनुवादक एवं सम्पादक : पं० पृथुराम शास्त्री)

पृष्ठ संख्या 120,

मूल्य 25.00 रुपये

डॉ० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, आचार्य, संस्कृत विभाग, पंजाबी विश्व विद्यालय, पटियाला इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिखते हैं—

'जालन्धर पीठ दीपिका' तीर्थ माहात्म्य सम्बन्धी ग्रन्थ होने के साथ-साथ तन्त्र-योग की कृति भी है। इसमें मनुष्य मात्र में प्रसुप्तावस्था में स्थित कुण्डलिनी शक्ति को जगाने की समया विधि का वर्णन किया गया है। प्रस्तुत कृति कांगड़ा जनपद की भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक परम्परा के महनीय दर्पण के रूप में सर्वथा स्वागत-योग्य है।

2. क्रान्तिकारी साहित्यकार : यशपाल

(ले० डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा)

पृष्ठ संख्या 12+96,

मूल्य 24.00 रुपये

इस प्रसंग में डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त लिखते हैं—प्रस्तुत कृति के अध्ययन से एक बात जो मैं भली-भांति हृदयंगम कर सका, वह यह कि समूचे हिन्दी-साहित्य में संभवतः एक भी ऐसा बहुआयामी, सर्वतोमुखी, सार्वक्षेत्रीय एवं शुद्ध क्रान्तिकारी साहित्यकार नहीं हुआ जिसने एक साथ इतने क्षेत्रों में व इतने रूपों में कार्य किया हो जितने में श्री यशपाल ने किया.........। निश्चय ही डॉ० ब्रह्मदत्त ने अपनी सशक्त लेखनी के बल पर श्री यशपाल के इस पक्ष को उदघाटित करने में योग दिया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। इस कृति से निश्चय ही श्री यशपाल के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को न केवल समझने में सहायता मिलेगी अपितु नई पीढ़ी के युवा पाठकों की उनमें—विशेषतः यशपाल जी के क्रान्तिकारी-रूप में— नयी रुचि जागृत होगी।

............डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा ने जिस शैली में यशपाल-साहित्य का परिचय दिया है, वह शोधपरक है तथा पाठकों के मन में अनेक नयी जिज्ञासाओं को जन्म देता

है तथा यशपाल-साहित्य पढ़ने के लिए प्रेरित करता है।

—'डॉ० सुशील कुमार फुल्ल'

(दैनिक ट्रिब्यून में प्रकाशित समीक्षा)

3. हिमाचल के क्रान्तिकारी महान् देशभक्त : इन्द्रपाल

(ले० डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा)

पृष्ठ संख्या 8+65,

मूल्य 5.00 रुपये

प्रस्तुत पुस्तक 'हिमाचल के क्रान्तिकारी महान् देशभक्त इन्द्रपाल' में लेखक ने भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में क्रान्तिकारियों की भूमिका को रेखांकित करते हुए हिमाचल के वीर सपूत श्री इन्द्रपाल के जीवन संग्राम को उभारा है···लेखक ने अनथक परिश्रम के साथ इन्द्रपाल के जीवन संग्राम को चित्रित करते हुए कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्यों को भी उद्घाटित किया है।

क्रान्ति की प्रक्रिया को अनवरत रखने, उदीयमान पीढ़ी को चरित्रवान् लग्नशील, कष्टसहिष्णु और संघर्षशील बनाने में विवेच्य रचना सक्षम है।

4. कबीर : कल्पना-शक्ति और काव्य-सौन्दर्य

(ले० डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा)

पृष्ठ संख्या 166,

मूल्य 20.00 रुपये

डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त प्रस्तुत कृति के 'आमुख' में लिखते हैं—वस्तुतः कबीर के काव्यत्व को सम्यक् रूप में उद्घाटित करने के लिए उनके ज्ञान, विचार और साधना को नहीं अपितु उस कल्पना शक्ति को आधार बनाना होगा जो साधक कबीर को कवि कबीर बना सकी। यही वह शक्ति है जिसके बल पर वे साधक, विचारक, सुधारक होते हुए भी बुद्ध, स्वामी दयानन्द, गान्धी की कोटि से भिन्न साहित्यकार की कोटि में आते हैं। प्रस्तुत शोध-निबन्ध में इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कल्पना-शक्ति के आधार पर कबीर-काव्य का विवेचन-विश्लेषण का प्रयास किया गया है; इस दृष्टि से यह प्रयास मौलिक, नूतन एवं प्रशंसनीय है।······जिस विषय पर अब तक एक भी पृष्ठ उपलब्ध नहीं था, उस पर एक पूरा प्रबन्ध प्रस्तुत कर देना—निश्चित ही उनकी नूतन दृष्टि एवं पर्याप्त विवेचन क्षमता का प्रमाण है।

"कबीर-साहित्य का अध्ययन अब तक विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है जिससे उसके दार्शनिक, साधनात्मक, सामाजिक आदि पक्षों का उदघाटन भली-भांति हुआ है फिर भी अब तक चिन्तकों एवं शोध-कर्त्ताओं की दृष्टि जितनी कबीर के चिन्तक, साधक एवं समाज-सुधारक रूप पर केन्द्रित रही, उतनी कवि-रूप पर नहीं रही, इसी से कबीर की काव्यात्मक उपलब्धियों के सम्बन्ध में अब भी संदिग्ध स्थिति है।···प्रसन्नता की बात है कि डॉ० ब्रह्मदत्त शर्मा ने प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इसी दृष्टि को लेकर कबीर काव्य का विवेचन प्रस्तुत किया है। वस्तुतः शुद्ध सौन्दर्य-शास्त्रीय

मूल्यों के आधार पर कबीर-साहित्य के सौन्दर्य का उद्घाटन करने की दृष्टि से यह प्रबन्ध निश्चित ही महत्त्वपूर्ण है— अतः लेखक का श्रम प्रशंसनीय एवं अभिनन्दनीय है।"

(साहित्य-संदेश, आगरा)

5. इन्साफ़ (स्वः बिशन दास गुलशन)

उर्दू नाटक का हिन्दी लिप्यन्तर, लिप्यन्तरकार (श्री जे० सी० पठानिया)

पृष्ठ संख्या 103

मूल्य 20.00 रुपये

प्रस्तुत नाटक 'इन्साफ' सामाजिक नाटक है। इसके रचना काल 1930-35 में शोषक-शोषित, शासन तथा सामाजिक अन्याय का विरोधी एवं न्याय-स्थापन में सक्रिय युवावर्ग—ये चारों समाज के प्रमुख अंग हैं। नाटक का कथानक इन्हीं पर आधारित है"

श्री पृथुराम शास्त्री)

"गुलशन अपने समय में कविता के क्षेत्र में विशेष ख्याति प्राप्त कर चुके थे। उनकी कलम ने परिष्कृत भाषा में नाटक भी लिखा था जिसका नाम है—इन्साफ़। यह उनकी बहुमुखी साहित्यिक प्रतिभा का द्योतक है।"

(श्री बलदेव मित्र बिजली)
यशपाल साहित्य परिषद्
नादौन जिला हमीरपुर हि० प्र० 177033

किन्नर समाज में नारी

नारी को तत्ववेत्ताओं एवं कवियों ने अलग-अलग नजरियों से देखा है। यों भी सामाजिक संबंधों की दृष्टि से नारी के नाना रूप हैं। कहीं तो वह जननी है, और मातृ-शक्ति की प्रतीक होने के कारण पूजित-पुरस्कृत होती है, कहीं वह पत्नी है, कहीं दुहित तो कहीं बहिन। एक अलग रूप में भी नारी को हम देखते हैं, जो उसे पुरुष की प्रेमिका या प्रेयसी होने की स्थिति सुलभ कराता है।

पांडव-संस्कृति-प्रधान किन्नरी समाज में नारी को आरम्भ से ही गौरवास्पद स्थान प्राप्त रहा है। हमारे संविधान में किन्नरों को 'आदिम जाति' घोषित किया गय है और यहां के निवासियों को जनजातीय क्षेत्र में आबाद प्राचीन सामाजिक एः सांस्कृतिक परम्पराओं और रिवाजों वाला समाज माना गया है। इस लिहाज से किन्नर समाज की नारी अतीव प्राचीन एवं आदिम जाति की नारी है, जिसने आज के विकासो न्मुख रीति-रिवाजों तथा शिक्षा प्रसार के बहुविध अवसरों के हाथ आ जाने पर भं निजी 'आदिम' सांस्कृतिक आधार और परम्परा को अक्षुण्ण रखा है।

यत्र-तत्र नई रोशनी तथा पाश्चात्य सभ्यता के परिवेश बेशक दिखाई पड़ने लगे हैं, मगर यहां का खान-पान, वेशभूषा, रहन-सहन, बोल-चाल, धार्मिक कृत्य, सभी अपनं आदिम विशेषताएं यथावत लिए हुए हैं। शिक्षित होने पर भी आज की किन्नर नव· वधुएं यहां पर 'दोहड़' (ऊनी साड़ी) और चोली धारण करते हुए गौरव अनुभव करती हैं। पहले की भांति सिर पर टोपी पहनती हैं। वे जब कभी दिल्ली, चंडीगढ़, पंजाब या हरियाणा प्रान्त के नगरों में जायें, या जाती हैं, तो खुशी-खुशी वहां पर इस्तेमाल होने वाले कुर्ते, पाजामे (सलवार) कमीज दुपट्टे को अपनाती हैं मगर अपना पारम्परिक पहनावा वे कदापि नहीं छोड़तीं। शायद इसलिए कि यहां की जलवायु तथा यहां का मौसम इस बात का आग्रह करता है कि ये अपने पहरावे को न छोड़े।

बहुपति-प्रथा

इस जन-जातीय क्षेत्र में सदियों से बहुपति प्रथा परम्परिक चली आ रही है। इस रिवाज के दृष्टिगत कई विद्वान् यह मान बैठे हैं कि किन्नौर की नारी चूंकि एक से अधिक 'पतियों' की सेवा करती है, इसलिये समाज में उसकी स्थिति महज एक 'गुलाम

दासी या बंदिनी की सी है। उन्हें यहां पर एक बात का स्मरण कर लेना चाहिये कि महाभारत के युग में द्रौपदी भी ऐसी ही स्त्री हो गुजरी है, जिसके प्रेम और सेवा-भाव ने नाना आपदाओं के रहते 'पांच पांडवों' (पतियों) को एकजुट बनाये रखा तथा उन्हें बुरे दिनों की क्रूरताओं और विपत्तियों का समाना करने की प्रेरणा दी। जाहिर है कि किन्नौर की नारी आदर्श 'द्रौपदी' बनी हुई है। यहां की समाज व्यवस्था में समूचा परिवार पत्नी को 'धुरी' मानकर उसके गिर्द घूमता है। स्त्री की भूमिका यहां अतीव महत्वपूर्ण है। उसका दायित्व महान है। वह हर एक पति, पुत्र, पुत्री, सभी को प्रसन्न रखने का यत्न करती है। वह जितनी तत्परता एवं चौकसी से परिवार की देख रेख करती है, उतनी इच्छा से यह भी देखते हैं कि उसके स्वाभिमान का दूसरे लोग भी बराबर ध्यान रखते हैं। यहां की स्त्री की प्रकृति भावुकता एवं करुणा से ओत-प्रोत है। और वह हमेशा अधरों पर मुस्कान लिए तथा नयनों में स्निग्धता लिए अपने रिश्तेदारों का स्वागत करती है। और वे सब भी उसके सम्मान और पद का हमेशा ध्यान रखते हैं।

विवाह तो बेशक एक भाई करता है, मगर जब वर पक्ष के गृह में प्रवेश लेने नववधु दाखिल होती है, तब सभी भाई (पति) उसका 'पाणिग्रहण' करते हैं और द्रौपदी के समान वह सभी की पत्नी तसव्वुर की जाती है। वे सब (भाई) उसके जीवन संगी बन जाते हैं।

गृहस्वामिनी यानी 'गोयने'

किन्नौर में, परिवार में सबसे प्रमुख समझी जाने वाली स्त्री 'गोयने' यानी गृहस्वामिनी कहलाती है। घर की तमाम संपत्ति, रुपया पैसा, खाद्यान्न आदि उसी के पास होते हैं। रसद का जहां पर भंडारण होता है, उस 'कोठड़ी' (कमरे) को यहां की भाषा में 'कोठार' कहते हैं। चुनांचे 'गोयनें' ही कोठार की ताला कुंजी संभालती है। तमाम लेनदेन उसी की सहमति एवं जानकारी में होता है। हां, घर का हिसाब-किताब देखने में 'गोरते' (गृह-स्वामी) अवश्य उसकी मदद करता है। परंपरानुसार घर के तमाम सदस्य परिवार की सुख-समृद्धि एवं सम्पन्नता हेतु जी-जान से काम करते हैं। मगर प्रत्येक सदस्य को अपनी समस्त आय 'गोयने' के हवाले करनी होती है। बस, यही है यहां के आदर्श परिवार की एकता एवं संगठन का रहस्य।

पत्नी तमाम पतियों (भाइयों) से एक-सा प्रेम रखती है। वह तभी पतिव्रता समझी जायेगी जबकि सब पति उसके व्यवहार और सुघड़ता से सन्तुष्ट रहें। पक्षपात की गुंजाइश नहीं होती है। बेशक इस कठिन साधना में उसे निजी एकाधिकार सुख का त्याग करना पड़ता है। वह किसी (एक) पुरुष के संग अखंड संबंध स्थापित नहीं कर सकती। विवाह संबंध पारिवारिक संबंधों अथवा श्रम विभाजन की सीमा रेखा तक सिमट कर रह जाते हैं। मगर पत्नी के समक्ष हमेशा, घर-परिवार की एकता और संगठन ही प्रमुख लक्ष्य रहता है। पतियों के मध्य मन-मुटाव पैदा न हो, इस बात का

ध्यान उसे हमेशा रहता है । यदि दुर्भाग्यवश, कभी ऐसी वैमनस्य की स्थिति आ जाये, तो घर के विघटन के लक्षण प्रकट होने लगते हैं । ऐसी दशा में 'गोयने' निजी सुघड़पन और दक्षता का परिचय देती है तथा सभी पतियों को व्यर्थ के तनाव और कुंठा की मनोदशा से उबार लेती है और विघटन का संकट टल जाता है ।

वैसे पतियों में आपसी वैमनस्य के अवसर कम ही मिलते हैं । वे इकट्ठे बहुत कम रह पाते हैं । यदि एकत्रित होने का संयोग कभी घट भी जाये तो सामूहिक 'घंटी' पान (शराब नोशी) का आयोजन पहले ही जुटा दिया जाता है । यह दौर 'घंटों' चलता है । जब लोग खा-पीकर उठते हैं तब निद्रा उन्हें निज अंक में शरण देती है । कोई आपसी मन-मुटाव या तनाव हो भी तो 'खुमारी' छाने पर स्वतः तिरोहित हो जाता है और अकसर पत्नी एकाकिनी ही निजी शयनकक्ष में जाती है ।

कर्मशील महिला समाज

यहां के लोक गीतों में बार-बार इस तथ्य का आग्रह हुआ है कि पत्नी को 'सुघड़' सियानी बनने के लिए किन-किन गुणों से अलंकृत होना चाहिये । निश्चय ही वह पुरुषों की अपेक्षा कहीं अधिक काम करती हैं । ऊन कातने, खाना बनाने, खेतों में जाने और सिंचाई आदि के तमाम कार्य महिलाएं खुद करती है । 'चूहली' तथा 'बहमी' के फलों को एकत्रित कर, उन्हें सुखाकर तेल निकालती हैं, और प्रायः शराब (घंटी) भी कशीद करती हैं । आजकल सार्वजनिक निर्माण कार्यों के चालू होने के परिणामस्वरूप अनेक घरों की महिलाएं मजदूरी को भी जाती हैं । भेड़ बकरियों के चराने में भी औरतें पति (या पतियों) की सहायता करती हैं । उनकी व्यस्तता कितनी ही क्यों न हो, वे सदैव हंसमुख और सहृदय बनी रहती है । अक्सर यह अहसास होता है कि स्त्री का जीवन यहां पर मात्र एक 'मशीन' बनकर रह गया है, पर यह बात नहीं है । व्यस्त रहकर भी वह हंसमुख बनी रहती है । अपने श्रम के कष्ट को वह नाच-गाकर हल्का करती है । किन्नर समाज में विवाह से पहले युवतियों को नाचने-गाने की भरपूर आजादी प्राप्त होती है । यहां पर 'तोशिङ' की 'प्रथा' प्राचीनकाल से परम्परित रही है । इनमें, शीत-काल के दौरान या अवकाश सुलभ होने के दुर्लभ क्षणों में गांव की युवतियां किसी खास जगह एकत्रित हो जाती हैं । वहीं पर खाना तैयार करती हैं, एक साथ मिलकर खाती हैं, गाती और नाचती हैं, फिर वहीं पर सोती हैं । ऐसे आयोजनों पर युवतियां गांव के युवकों को भी आमंत्रित करती हैं । वे दिन भर उनके साथ उन्मुक्त भाव से गप-शप करते हैं, नाचते और गाते हैं । बहुधा रात को भी वहीं रह जाते हैं । 'तोशिम' की यह परम्परा बहुत ही प्रिय प्रथा है । इस छूट के तुफैल अक्सर युवतियों को निज इच्छानुसार शादी करने का अवसर प्राप्त हो जाता है । एक बार प्रेम संबंध स्थापति होने पर उसकी परिणति शादी में ही होती है । संबंध-विच्छेद या तलाक के मामले यहां अपेक्षाकृत कम ही देखने में आते हैं ।

अब जबकि महिला मंडलों की स्थापना हो चुकी है तथा शिक्षा का प्रसार

बराबर बढ़ता जा रहा है, किन्नर देश की नारी अपने को काफी प्रबुद्ध एवं जागरूक समझने लगी है। उसे जहां निज कर्तव्य का ध्यान है, वहीं पर अपने अधिकारों के प्रति भी वह काफी सतर्क हो चली है। कहीं-कहीं तो 'बहुपति प्रथा' के विरुद्ध भी आवाजें आने लगी हैं। वह अब पुरुष द्वारा शोषित या प्रताड़ित होकर नहीं रहेंगी वरन् उसे अपना पूरक समझकर उसको सहयोग एवं सहवास देगी ।

किन्नरों की धरती

हिमाच्छादत पर्वत-चोटियों वाले प्रदेश से लेकर मैदान के घने जंगलों से होता हुआ रेगिस्तानी हिस्से को पार कर समुद्र तक पहुंचा है भारतवर्ष, जो इन सबके साथ विविध कलात्मक एवं संस्कारपूर्ण बेलबूटों से छपी एक चादर में ढका पड़ा है। इसी कलापूर्ण चादर का एक छोर है प्यारा हिमाचल प्रदेश।

वैसे तो समस्त हिमाचल प्रदेश को देवभूमि माना जाता है, पर जनजातीय क्षेत्र किन्नौर जिला निश्चय ही देवी-देवताओं का क्षेत्र है, किन्नौरों की गणना भी देवयोनि में की गयी है। संस्कृत के कुछ विद्वान जब शुरू में भ्रमण करते हुए इस दूरवर्ती एवं दुर्गम क्षेत्र में आए तो बिना दाढ़ी-मूंछ वाले पुरुषों को देख कर आश्चर्य से चिल्ला उठे— 'अयम किम नरः ? क्या यह पुरुष है ?

ये अनोखे देवी देवता

किन्नौर में देवी-देवताओं का अस्तित्व हर गांव में सामाजिक जिन्दगी का अविभाज्य अंग है। लोगों ने देवी-देवताओं को मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित कर रखा है। साधारणतः देवगण प्रकाश के प्राणी माने जाते हैं, परन्तु यहां के देवी देवताओं का आचरण निराला है। शायद वे घोर अन्धकार में ही विचरण करते हैं।

ऐसी भी धारणा है कि इन गगनस्पर्शी शिखरों पर अप्सराएं तथा भूतप्रेत भी डेरा डाले पड़े हुए हैं। इन अलौकिक आत्माओं—भूत-प्रेत, परियों, क्षेत्रपाल, नागराज, झाली, भाली आदि की प्राचीनकाल से पूजा की जाती रही है। किन्नर आरम्भ से प्रकृति पूजा और प्रेत पूजा के हामी रहे हैं। कतिपय विशिष्ट अन्ध-विश्वासों से इनका धर्म ओत-प्रोत रहा है।

अधिकतर लोग हिन्दू और बौद्ध (लामा) दोनों धर्मों के हैं। धार्मिक तौर-तरीकों एवं परम्पराओं के चलते यह सहज ही अनुमान होता है कि इन क्षेत्रों की ज्यादातर आबादी आज भी 'जंगली' अवस्था से पूरी तरह नहीं उबर सकी है। इन प्राचीन कबीलों के विश्वास एवं परम्पराएं सचमुच रहस्यपूर्ण हैं। विद्वानों ने किन्नरों को 'अश्वमुख' भी कहा है, जो उनकी इस रहस्यमयता को सिद्ध करता है।

किन्नरों का यह दावा भी भ्रम में डालने वाला है। इस क्षेत्र की स्त्रियां भी टोपी

पहनती हैं। दोनों वर्गों की पोशाक काफी मिलती-जुलती हैं जिससे बाहरी लोगों का चकित होना स्वाभाविक ही है। यह धोखा बहुधा होता रहा है—'किम नरः? कौन स्त्री है और कौन नर है।

किन्नौर क्षेत्र के देवताओं की एक और खूबी यह है कि वे सबके सब असुर वंश से सम्बद्ध हैं। ये बाणासुर और हिडिम्बा (हरिमा) के वंशज हैं। लोकगाथा के मुताबिक बाणासुर पश्चिमी तिब्बत के गुगेचरड़ वादी का वासी था जबकि हिडिम्बा लाहल घाटी की परम सुन्दरी थी। दोनों की कुल 18 सन्तान हुई जो इस क्षेत्र के प्रमुख देवी-देवता हैं। एक समय था, जब देवी देवता नर बलि लिया करते थे। मगर विगत सौ वर्षों से वे पशु बलि से ही तृप्त एवं तुष्ट होने लगे हैं।

कोठी की देवी चंडिका

कोठी की चंडिका (दुर्गा) किन्नर देश की सबसे 'जागता' देवी हैं। इन देवीजी का कोथा (जीवन-वृत) सर्वथा श्रुति रूप में उपलब्ध रहा है। पर स्व: राहुल सांकृत्यायन जी ने इसे अतीव रोचक ढंग से लिपिबद्ध करके शोधकर्ताओं और पाठकों पर महान उपकार किया है।

चंडिका का जन्म सूडरा (ग्रोस्नम) के निकटवर्ती ग्वारवाड नामक गुफा में हुआ था। चंडिका की तीन और बहनें भी थीं तथा तीन भाई भी। शेष तीन बहनें काल कवलित हो गईं, पर तीनों भाई सलामत रहे। समय आने पर ये चारों संतानें सयानी हुईं। पुत्री के उत्तराधिकार का कोई सवाल ही नहीं था। पिता के परलोक सिधारने पर भाइयों में खटपट शुरू हुई। इन भाइयों के नाम थे महेसू महेशु या महेश्वर। स्व: राहुल जी ने पहाड़ी रीति को ध्यान में रख कर उन्हें बड्डा, माहिला और कांछा (कनिष्ठ) कह कर पुकारना बेहतर समझा है। यह समय कलियुग से कुछ पूर्व द्वापर के बिलकुल अन्त का बताया गया है जब देवी का जन्म हुआ था, अर्थात पांच हजार से कुछ वर्ष पहले। तीनों भाइयों के झगड़े ने उग्र रूप लिया तो बड़ी बहन (देवी) को लगा कि इस कलह से बाणासुर का वंश ही तबाह हो जाएगा। उसने भाइयों को समझाया---'वंश नाश क्यों करते हो। कौरव-पांडवों के हाल में हुए गृह-युद्ध से कुछ सबक लो।'

भाइयों को कुछ एहसास हुआ तो कहने लगे—'तो बहन। तू ही पंच बन जा और सम्पत्ति का बंटवारा कर दे।'

बहन ने इस कष्ट को सहर्ष स्वीकार कर लिया। भावा के ऊपर घास के मैदान में अब भी वह चट्टान मौजूद है, जिस पर बैठ कर देवी ने भाइयों में पैतृक सम्पत्ति का बंटवारा किया। तीनों असुर पुत्र मदिरा के जाम पर जाम उंडेलकर रक्ताक्ष एवं घूर्णित-शिर होकर गोधूली की बेला में वहां से पधारे। तीनों ने देवी (बहन) की वन्दना की। देवी ने पिता के राज्य को हाथ में लिया। फिर उसके तीन भाग किए। पीठ-स्थान बड़े भाई को दिया। वह अपनी राजधानी के नाम से सुडरा (या ग्रोस्नम) महसू कहलाया। माहिला (मंझले) के हिस्से में भावा खण्ड का इलाका आया तथा वह भावा महेसू कहलाने

लगा। कोंछा (छोटे) को राजग्रमड का इलाका मिला जिसकी राजधानी चगांव या ठोलडा के नाम पर उसे वहां का महेसू मान लिया गया। तीनों महेसू अतीव प्रसन्न थे। सुरा-सुन्दरी ने इस प्रसन्नता को और बढ़ाया। धन्यवाद, देते, गिरते-पड़ते तीनों महेसू अपने-अपने निवासों को गए।

परन्तु देवी अपने आसन से नहीं उठीं। जब तीनों भाई आंखों से ओझल हो गए। तब उसने अपनी चोटी से कोई चीज निकाली और चुपके से अपने दोहड़ू (ऊनी साड़ी) के भीतर छिपा कर उड़ चली व गायब हो गयी। यह जरूरी भी था। यदि वह पैदल जाती तो दो भाइयों - माहिला तथा कांछा - के राज्यों में से भाग कर जाना पड़ता, जहां खतरा था। उड़ती हुई देवी ऊपरी किन्नौर के रोपा ग्राम में पहुंची। वहां पर वह अधिक समय तक नहीं ठहरी। चोटी में जो वस्तु उसने छिपा रखी थी, उसे उसकी चिन्ता सता रही थी। वह चीज थी पिता के समस्त राज्य का वह भाग जिसे यहां की बोली में 'माती शोवाल्यड' या शोवा कहते हैं। यह भू-भाग उक्त क्षेत्र का सबसे सुरम्य एवं उप-जाऊ हिस्सा है। रोहगी सेचिनी गांव तक का समस्त इलाका इसी में आता है, बल्कि पंगी खड्ड तक इसकी हद लगती है।

प्राचीन काल से आज तक यह इलाका द्राक्षी मदिरा यानी अंगूरी के लिए प्रसिद्ध चला आ रहा है। अब तो सेब, नाख, आलूचा तथा बादाम का भी यह गढ़ बनता जा रहा है।

अस्तु, इसी जरखेज भू-भाग को देवी ने बंटवारे के वक्त अपने लिए चुरा कर अपनी चोटी में खोंस लिया था। जाहिर है, उसने भाइयों को धोखा दिया। शायद इसी से पूरे किन्नौर में कोठी की इन देवी महोदया को चालाक देवी समझा जाता है। यों यह चंडिका है, पर उस शक्ति की समकक्ष न समझें जिसे बाहर के लोग, अपणा, पार्वती, दुर्गा, या मृडानी चंडिका कह कर पूजते हैं। लक्ष्मी यदि पुंश्चली है, तो पार्वती सदैव सती रहती हैं। पर इन चंडिका का अवैध सम्बन्ध किसी व्यक्ति से है जो सदा उनके साथ-साथ रहता है।

कहते हैं कि देवी ने रोपा से कोठी पहुंचने पर एक राक्षस को मारा था। वह राक्षस ही उस क्षेत्र का मालिक था। वह अपनी प्रजा और पत्नी को तंग करता था। चंडिका ने उसकी पत्नी को पटा लिया और उससे यह आज्ञा प्राप्त कर ली कि देवी उस राक्षस को मारेगी और उसकी (पत्नी की) शेष आयु भर रक्षा एवं भरण-पोषण करेगी। फिर तो देवी ने उसे (राक्षसी को) अपने साथ रखा।

एक मजेदार किम्वदन्ती है कि कोठी की देवी कुमारी ही हैं। हां रोपा गांव के निवासी इस तथ्य का विरोध करते हैं। डा० वंशी रामजी शर्मा का मत है कि मूरङ गांव का देवता ओरमिग अथवा कुल देव है, जो नारायणों की श्रेणी में आता है अतः यह विवाद सम्बन्ध शैव व वैष्णव संस्कृतियों को मिलाने का कार्य करता है। बहुत पहले बारह वर्ष तक, ओरमिग देवता चंडिका से निमंत्रण पाकर रोपा जाया करता था। एक बार दोनों में कुछ शर्त लग गई। देवी शर्त हार गई। तब ओरमिग ने चंडिका के आगे विवाह-

प्रस्ताव रखा। मगर रोपा वालों का ख्याल है कि चंडिका ने देवता से विवाह नहीं किया बल्कि आगे के लिए दोनों का मिलना-जुलना भी बन्द हो गया। उधर मूरङ वालों ने तो चंडिका का रथ (रथडा) ही बना लिया और देवी को बराबर आरमिग की पत्नी स्वीकारते हैं। महा पंडित राहुल सांकृत्यायन की यह शंका कि देवी ने विवाह नहीं किया, उक्त प्रसंग से स्वतः समाधान प्राप्त कर लेती है।

जो भी हो, सच्चाई यह है कि आज भी समूचा किन्नौर देवी के प्रकोप से थर-थर कांपता है। क्या मानव, तो क्या देवता, सभी चंडिका से भयभीत हैं। यहां के देवी-देवताओं में सबसे धनी चंडिका ही है। वह सोने से लदी रहती है। देवी-विहार एवं सैर-सपाटे की शौकीन हैं। कोठी (शोवा का केन्द्र स्थान) में ही माता का स्थायी निवास है, जबकि रोपा में एक महल (मन्दिर) बना हुआ है, जहां वह हर तीसरे वर्ष प्रगट होती है। कोठी गांव एक प्राचीन ऐतिहासिक महत्व का स्थान है जहां पर देवी का मंदिर है। पास ही, बायीं ओर, एक भैरव-मंदिर है। एक सुन्दर जलाशय (कुण्ड) भी है। कहा जाता है कि यह जल कुण्ड पांडवों ने बनाया था। राहुल जी का यह कहना कि शायद पांडवों ने अज्ञातवास की सारी अवधि किन्नर देश में ही गुजारी, एक जोरदार व्यंग प्रतीत होता है। परन्तु इतना स्पष्ट है कि पांडव-विवाह परम्परा को किन्नर वासियों ने खूब मुस्तैदी से ग्रहण किया है। इसीलिए तो यहां द्रौपदियों की खान बनी हुई है. इसी से यहां पर पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही बहुपतित्व की परम्परा अब भी यथावत बनी हुई है। देवी-देवता इसके बहिष्कार को पसन्द नहीं करते हैं।

गद्दी जाति एवं धार्मिक संस्कार

संस्कृत की 'गड' धातु के साथ 'डर्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'गड्डर' शब्द भेड़ का पर्याय है। कोशकारों ने 'भेड़ों की पंक्ति' के अर्थ में 'गड्डरिका' शब्द को उल्लिखित किया है। अत: व्यवसाय के आधार पर भेड़ बकरियों के पालक जन समुदाय के बोधक 'गद्दी' शब्द का उद्‌भव 'गड्डरिका' से हुआ।

मुनि पाणिनिकृत अष्टाध्यायी (ईसा पूर्व सप्तम शती) में 'सिन्धु तक्षशिला-दिभ्योऽणजौ' (4.3.93) सूत्र के सिन्धु आदि गण में 'गब्दिका' शब्द उल्लिधित है। जिसका प्रयोग 'जनपद' के अर्थ में हुआ है तथा निवासियों के लिए 'गाब्दिका' शब्द मिलता है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'पाणिनि कालीन भारत' पुस्तक में हिमाचल प्रदेश के गद्देरन क्षेत्र को ही 'गब्दिका' माना है। उनके विचार में 'धौला धार से ऊपर चम्बा राज्य में गद्दियों का गद्देरन प्रदेश प्राचीन 'गाब्दिक' ज्ञात होता है। स्पष्ट है कि ई० पू० सातवीं शताब्दी में गद्देरन क्षेत्र के साथ गद्दियों का सम्बन्ध तथा अस्तित्व था।

एक प्रचलित कहावत है—"उजड़या लाहौर तां बसया भरमौर"। इसके आधार पर ब्राह्मण, राजपूत तथा खत्री आदि जातियों के लोग मुगल अत्याचारों से आतंकित होकर दिल्ली, राजस्थान तथा पंजाब से भाग कर यहां बस गए। ऐसा ही विचार पाश्चात्य विद्वानों—हचिसन्, फोगल तथा गोट्ज ने व्यक्त किया है। चौहान राजपूत तथा ब्राह्मण गद्दी राजा अजय वर्मा (850-70) शासन काल में चम्बा में बाहर से आए थे। 'चुड़ाहन 'हर खान', 'पखरू', 'चिलेदी', 'मंगलू' तथा 'कुडयाल' राजपूतों के विषय में यह धारणा है कि वे औरंगजेब के अत्याचारों से पीड़ित होकर पर्वतीय क्षेत्र की ओर भाग आए थे। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भरमौर (ब्रह्मपुर) गद्दियों का मूल आवास स्थल है। बाहिर से आए लोग भी यहां की संस्कृति में घुलमिल कर एतद् रूप ही हो गए। जिनकी आज अलग कोई पहचान नहीं है।

चम्बा तथा कांगड़ा की गिरिजन यह गद्दी जाति भरमौर की ही मूल निवासी है, जो चम्बा से दक्षिण की ओर विस्तृत धौलाधार के उस पार कांगड़ा के उत्तरी भाग तक फैली हुई है।

ब्राह्मण आदि जातियों का 'अलों में विभाजन:—

गद्दियों की ब्राह्मण, राजपूत, खत्री और राठी जातियां अपने मूल वंश के गोत्र के साथ सम्बन्ध बनाए हुए हैं। हिन्दू शास्त्रों के अनुसार ये गोत्र मुख्यतः सप्तर्षियों के नामों पर प्रचलित हैं। जिसका गोत्र ज्ञात न हो उसे 'कश्यप' गोत्र से सम्बद्ध किया जाता है। क्योंकि सृष्टि के निर्माण में 'कश्यप' का प्रथम तथा मुख्य स्थान माना जाता है। देव-दानव आदि सृष्टि की संरचना में आदि पुरुष के रूप में इन्हें ही प्राधान्य प्राप्त है।

कश्यपोऽथ भारद्वाजो गौतमश्चात्रिरेवच।
जमदग्नि: वसिष्ठश्च विश्वामित्रो महामनाः।
कृते सप्तर्षय............. .. ..॥

भारद्वाज, गौतम, अत्रि, जमदग्नि, वसिष्ठ, विश्वामित्र ये सप्तर्षि हैं। भारतीय परंपरा के अनुसार प्रत्येक हिन्दू अपने को किसी न किसी ऋषि-गोत्र से संयुक्त मानता है। इस धारणा से इस बात को भी बल मिलता है कि गद्दियों का मुसलमानों से कभी दूर का भी सम्बन्ध नहीं रहा है। यह गद्दी जाति अपने मूल ऋषि-गोत्र के साथ अनेक 'अलों' में विभाजित है। उक्त सात ऋषियों के अतिरिक्त अन्य ऋषियों से भी अध्ययन सम्बन्ध स्थापित होने से ऋषि-गोत्र प्रचलित है। कालान्तर में ऋषि-गोत्र विस्मृत हो जाने से अल का सम्बन्ध जीवित है। 'अल' से अभिप्राय है किसी एक कुल या परिवार के मनुष्यों का समुदाय। ये 'अल में विभाजन की परंपरा किसी व्यक्ति विशेष के गुण, स्वभाव, व्यवसाय, आकृति-प्रकृति स्थान आदि के आधार पर प्रचलित हैं। यथा— ब्राह्मणों में चम्बा जिला की भटियात तहसील में हमें 'भट' ब्राह्मण मिलते हैं। इसी प्रकार गूंगे व्यक्ति (पूर्व पुरुष) के नाम पर 'गू गेटू' ब्राह्मणों की 'अल' है। ये दोनों अपने को कौण्डल गोत्रीय स्वीकारते हैं।

ब्राह्मण गद्दियों की अलें:—

गद्दी ब्राह्मणों के वंशों के नाम पंजाब व अन्य भारतीय मैदानी क्षेत्रों में पाए जाने वाले सारस्वत, गौड, दत्त आदि ब्राह्मणों में प्राप्त नहीं होते है। प्रतीत होता है कि ये लोग 'गद्दी पद्धति' में ही पूर्णतया घुल मिल गए है। ब्राह्मणों में प्रचलित उदाहरण-स्वरूप कुछ अलों के उपनाम ये हैं: संफोलू—सौंफ का व्यापारी, जुकू—जुआरी, गुन्ने नाक से बोलने वाला, लटू लंगड़ा कर चलने वाला (लंगड़ा), चुपेटू चुप रहने वाला। ये अपना सम्बन्ध वसिष्ठ गोत्र से बताते हैं। तेनजु बिल्ली जैसी आंखों वाला, मंग रेटू कनखी से देखने वाला। इनका गोत्र भारद्वाज है। गौतम गोत्र की अलें है—गुन्ने—नाक से बोलने वाला, झुन्नु व्यर्थ में समय नष्ट करने वाला। कालिया वंश से सम्बद्ध ब्राह्मणों की एक अल 'लाद्धे' है, जिसका स्थानीय बोली में खचरों आदि पर सामान ढोने वाला है। कुछ विद्वानों ने 'लाद्दे' गद्दियों की लद्दाख मूल

का माना है जो उचित नहीं है। यह अल व्यवसाय मूलक है, लद्दाख से इसका सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता है। अपने आपको उत्तम (संभवतः गौतम गोत्र से सम्बन्धित) गोत्र का बताने वाले पत्तहण, डीना, डुंडा, मुक्का, टीणा आदि अलें है जिनका अर्थ स्थानीय बोली के शब्दों से स्पष्ट है। कांगड़ा 'पैनखनू' गद्दी ब्राह्मण पौरहित्य करता है। कुत्रचित् ब्राह्मण गद्दियों का खत्री गद्दियों की 'झूनू' अल (उपजाति) के साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी होता रहा है। आजकल हिमाचल के मैदानी भागों की तरह ही परंपराओं में आदान-प्रदान हो रहा है।

राजपूत आदि जातियों के गद्दी:—

राजपूतों, राठियों तथा खत्रियों में उत्तम, भारद्वाज, पराशर, देवल, पाल, वासिष्ठ, अत्रि, कश्यप, रतनपाल आदि गोत्रों की अनेक अलें प्रचलित है: कुराल= भूरें वालों वाला, मिसान=सूअर की सी नाक वाला, फगान=फक खाने वाला, खुड्डू=भुनी हुई मक्की खाने वाला, मकरात=मुक्केबाज, पंजारू=ऊन कातने वाला, रूसारी=रसोई बनाने वाला, जोतेन=पहाड़ की जोत पर जन्म लेने वाला आदि।

व्यवसाय परक अलें भी प्रचलित हैं— सुन्धेता=हींग बेचने वाला, वरदन= धनुषधारी, वैदु=वैद्य का काम करने वाला, घिगाइन=घी बेचने वाला।

कुछ 'अलें' आकृति एवं प्रकृति पर आधारित है: रोहेला=शोर (रोला) करने वाला, डाकियान=जो डाकिन के साथ नृत्य करें, कंगरू=निन्दक, झिर्के=छेड़-छाड़ करने वाला, अमलेटू=अफीमची आदि।

कांगड़ा के 'अगासनी' गोत्र के गद्दियों का सम्बन्ध 'जरयाल' राजपूतों से संयुक्त किया जाता है तथा 'रणौत' गद्दी अपने को कुटलैहड़ के रणौत राजपूतों से सम्बद्ध बताते हैं।

खत्री जाति के गद्दी निचले क्षेत्र के खत्रियों से भिन्न अधिकतर व्यवसायपरक अलों के मिलते हैं: साहणू=दुकानदार, पधोतरू=जो मैदान में रहता था, रूसाहरी=जो रसोई बनाता है, चढ़ैन—चढ़ने वाला, नकलेटू=नकल करने वाला, मोंगू=मूंगे का व्यापारी आदि।

चम्बा के ब्राह्मणों में जैसे प्राचीन गोत्र असंख्य अलों में बंट गए हैं, उसी प्रकार खत्री गद्दियों में भी अलों की बहुलता है: बड़सैन=जो बकरियों के लिए बड़ लाए, सरकान=सरू का पेड़ लगाने वाला, फकूलू=जो निर्धन हो और फक खाए। धार्मिक नामों पर भी कुछ अलें मिलती हैं: जपेटू=जो जाप करे, फकीर=साधु वृत्ति वाला या भीख मांगने वाला, जोगीयान=जोगी (योगी)।

पूर्व पुरुषों के नाम पर प्रचलित कुछ अलें: फकरू=ऊन साफ करने के लिए कंघे बनाने वाला, घलेटू=कुश्ती लड़ने वाला, गाहरी=चरवाहा, लुणेसर=नमक का व्यापारी, पलणू=द्राट तेज करने वाला।

कांगड़ा के राठियों में कुलाई, घराटी, मखोतरू भी हैं। घराटी अल चम्बा के

क्षत्रियों में भी पाई जाती है। पूर्वकाल में राजा लोग राठियों को यज्ञोपवीत देते थे और वे इसके बदले उनकी सेवा किया करते थे।

कांगड़ा के ठाकुरों में बराऊ, हरेलू, जनवार, मरथान तथा सिऊरी ये अलें प्रचलित हैं। अन्य अलें जिनके सदस्य जनेऊ नहीं पहनते वे हैं : बघेरटू, घारी, टुटारी तथा उघेरटू।

गद्दी समुदाय में शूद्र श्रेणी में परिणित जातियां आज भी विद्यमान हैं : रिहाड़ा, सिप्पी, हाली, कोली। सिप्पी लोहार, संगीत व चेलों का काम भी किया करते हैं। चेला (तांत्रिक) का कर्म करने के कारण इन्हें समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त है। हाली हल चलाने वाला, कोली जाति तो समूचे हिमाचल में पायी जाती है।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि गद्दी जाति में विभिन्न गोत्रों को इतना महत्त्व प्राप्त नहीं हैं, वे अपनी पहचान अलों या जठों के रूप में बनाए हुए हैं। ब्राह्मण आदि जातियों का आधार व्यवसाय नहीं हैं। जाति को जन्म से मान्यता दी जाती है, कर्म से नहीं। गद्दियों में हरिजन भी हैं, परन्तु उनके प्रति अन्य जातियों का व्यवहार उदार है।

संस्कार विधानः—

गद्दी समाज में हिन्दुओं के सोलह संस्कारों में से कुछ एक मुख्य संस्कारों का ही प्रचलन रह गया है। इन सम्पाद्य मान संस्कारों में शास्त्र-विधान तथा लोक परंपराओं का मिश्रण सा हो गया है। ऐसी भी गद्दियों की भिन्न परंपराए हैं जो इस समूचे समाज में व्याप्त हैं।

नामकरण व अन्न-प्राशन—ये दोनों संस्कार एक ही दिन संपन्न किए जाते हैं। गद्दी भाषा में इस संस्कार का नाम 'सुगसु' है। एक प्रकार की खीर को पकाकर शिशु को खिलाया जाता है। बच्चे का नाम परिवार के किसी निकटतम सम्बन्धी द्वारा रखा जाता है। कभी-कभी पुरोहित भी नामकरण करता है। यह संस्कार जब बच्चा छह मास का हो जाता है, तब किया जाता है। इस संस्कार के पूर्व जब बालक दो-तीन मास का हो तो 'कैलुबीर' देवता की पूजा करने की प्रथा है।

मुण्डन—इस संस्कार का नाम 'जट्' या 'जटलू' प्रचलित है। यह एक परमावश्यक संस्कार गिना जाता है। एक वर्ष के भीतर अथवा पांच वर्ष की आयु तक विषम वर्षों में 'मणि-महेश' तीर्थ स्थान पर नवरात्रों में अथवा किसी कुलदेवता के मन्दिर में बालक के प्रथम केशों को काटा जाता है।

यज्ञोपवीत (जनेऊ)—यह संस्कार भी गद्दियों में किया जाता है। अधिकतर गद्दी विवाह के समय ही 'यज्ञोपवीत' धारण करते हैं। कभी-कभी 'मणिमहेश' आदि तीर्थों पर भी जनेऊ डाल लिया जाता है।

विवाह संस्कार—गद्दी जाति में मनु द्वारा निर्दिष्ट आठ प्रकार के विवाहों में 'ब्रह्म विवाह' को ही विशेष मान्यता प्राप्त है। यहां इसका नाम 'धर्म-पुन्न' विवाह है। यह विवाह सम्बन्ध कन्या तथा वर पक्ष के माता-पिता तथा अभिभावकों की सहमति से

होता है। वेदोक्त पद्धति से सम्पन्न होने वाले इस विवाह में कुछ स्थानीय रीतियों का भी समावेश है।

प्राचीनकाल में 'घर जुअन्तरी' की विचित्र-सी प्रथा भी रही है। इसके अतिरिक्त 'बट्टे का विवाह', गान्धर्व विवाह, विधवा विवाह भी किसी प्रकार से प्रतिबन्धित नहीं है।

अन्य प्रकार विवाह

बूजकया विवाह—इस विवाह में विवाह की सारी रस्में दुलहन के घर पर ही अदा की जाती हैं। व्यय की दृष्टि से इस विवाह का विशेष महत्त्व रहा है। व्यय में विशेष कटौती का होना इसकी अपनी विशेषता है। गद्दी समाज में कभी इसका सामान्य प्रचलन हुआ करता था।

झिड-फुक-विवाह—यह विवाह झिड (झाड़ियों) को जला (फुक) कर उसे ही 'विवाह-होम मण्डल' समझकर अन्य समाज से प्रच्छन्न रूप में होता है। इसे भी सामाजिक मान्यता प्राप्त रही है। इस विवाह में झाड़ियों को एकत्रित करके जलाया जाता है तथा दुलहा तथा दुलहन एक दूसरे का हाथ पकड़कर प्रज्वलित अग्नि की आठ परिक्रमायें करते हैं। प्रदक्षिणा के समय लड़के ने लड़की का दुपट्टा अपनी कमर से बांधा होता है। यह विवाह अति शीघ्रता में संपन्न होता है, अतः इसमें पुरोहित तथा अन्य सम्बन्धियों की विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती है।

झंजराड़ा (पुनर्विवाह)—ब्राह्मणों के अतिरिक्त (कहीं कहीं ब्राह्मणों में भी) अन्य जातियों में पुनर्विवाह की अनुमति होती है। इस विवाह को गुआनी, झंजराड़ा तथा चोली-डोरी भी कहते हैं। इस विवाह की संक्षिप्त विधि इस प्रकार है—

गणेश, नव ग्रह, ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दीपक, कुम्भ के स्थापित देव-मण्डल के समक्ष धूप तथा पात्र में जल रखा होता है, वहां दुलहा तथा दुलहन को बिठा दिया जाता है। दो आसनों पर बैठे दोनों उक्त सब देवताओं की गन्ध, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप से पूजा करते हैं। मण्डल में स्थापित देवताओं के पूजन के उपरान्त दुलहा दुलहन के सिर पर एक डोरी (लाल रंग की) रखता है। वहीं स्थित एक अन्य सधवा स्त्री दुलहन के सिर पर कंघा करके उसके बालों को बांधती (गूंदती) है। यह सिरगुन्दी की रस्म पूरी होने के साथ ही दुलहा दुलहन के हाथ पर 'बालू' (नाक का आभूषण) रखता है, वह उसे नाक पर धारण कर लेती है। यह उसके सुहागिन होने का प्रतीक होता है। यूं विधवाएं इस आभूषण को नहीं पहनती हैं। इस विवाह में गीत भी गाए जाते हैं, बाजे बजते हैं, इष्ट-मित्रों को सहभोज दिया जाता है।

आपसी सहमति से विवाह विच्छेद अथवा पति की मृत्यु के उपरान्त उपर्युक्त विधि से विवाह की प्रथा है।

अन्त्येष्टि संस्कार—अन्य भारतीय हिन्दुओं की भांति गद्दियों में भी हिन्दू शास्त्रों के निर्देश के अनुसार ही यह संस्कार किया जाता है। गद्दियों में 'शव-दाह' की परंपरा है, परन्तु कुष्ठादि संक्रामक रोगों के रोगी मृतक को भूमि में दबाया जाता है तथा

तीन मास के उपरान्त उसका दाह किया जाता है ।

शव-वाह--श्मशान स्थल पर ले जाकर मृतक को उत्तर दिशा की ओर सिर करके रखा जाता है। लकड़ियां चिनकर अग्निसात् कर दिया जाता है। मृतक के ऊपर जो वस्त्र (कफन), कम्बल आदि अतिरिक्त वस्त्र होते हैं, उतार लिए जाते हैं। वहां, जमीन पर कुछ पैसे रखे जाते हैं संभवत: इसलिए ताकि धरती मां उसे अपनी गोदी में स्थान दे दे ।

चिता को सिर की ओर से पुत्र द्वारा अग्नि दी जाती है, तत्पश्चात् वहां उपस्थित सगोत्री जन विपरीत प्रदक्षिणा क्रम से उसे आग लगाते है। पुत्र के अभाव में कुल का अति समीप सम्बन्धी प्रथमत: अग्नि देता है ।

कपड़े (वस्त्र प्रक्षालन शुद्धि) — मृत्यु से दसवें दिन मृतक की प्रेतत्व निवारणार्थ दशगात्र पिण्डदान की रस्म पुरोहित द्वारा निकट सम्बन्धी पुत्रादि करता है तथा अन्य सगोत्री एवं सम्बन्धी वहां उपस्थित होते हैं। वस्त्र धोए जाते हैं, सब स्नान भी करते हैं।

कम्बल उठाना--इसी दिन शोकग्रस्त आगन्तुकों के स्वागतार्थ बिछाए गए कम्बल को उठाया जाता है ।

बारहवें दिन—इस दिन मृतक के नाम पर एक बकरा काटा जाता है। ऐसी प्रथा है कि यह बकरा पुरोहित को दिया जाता है ।

तेरहवां दिन -पुरोहित द्वारा इस दिन समन्त्रक पांच पिण्ड तथा एक सपिण्डी का कृत्य करवाया जाता है। कर्त्ता पुत्र अथवा सगोत्री होता है । इस दिन पुरोहित को शय्या, वस्त्र, आभूषण, बर्तन आदि दैनिक उपयोग का सामान भी मृतक की प्रेतत्व निवृत्ति के लिए दिया जाता है ।

चौदहवां दिन--पत्नी के मायके से अर्थात् मृत व्यक्ति के श्वसुरालय से सम्बन्धी जन प्रात: ही आ जाते हैं। वे भाई चारे के व्यक्तियों को भोजन भी खिलाते हैं। इस दिन के सहभोज पर बकरा भी काटा जाता है। शोक का यही अन्तिम दिन होता है ।

तमाक--तीसरे मास की समाप्ति पर मृतक के नाम पर पुरोहित को दान दिया जाता है तथा भाईचारे को भी भोजन खिलाया जाता है। इसी प्रकार षाण्मासिक, वारखी (एक वार्षिक) तथा चौवरख (चतुर्वार्षिक) श्राद्ध तथा भोजन खिलाने की गद्दियों में प्रथा है।

यदि शव को दबाना हो तो पीठ के बल हाथ छाती पर जोड़े हुए लेटाया जाता है। उसका सिर उत्तर की ओर रखते हैं ।

अस्थि संचयन- शव को जलाने की स्थिति में उसकी अंगुलियां, घुटने तथा टखने आदि की सात अस्थियां (हड्डियां) इकट्ठी कर ली जाती हैं। उन्हें मसरू (अस्थियों को लपेटने का वस्त्र) में घर लाया जाता है। दस दिनों तक इन्हें उन्हीं कपड़ों में तथा उसी कमरे में रखा जाता है जहां जिन वस्त्रों में प्राणी की मृत्यु हुई थी ।

दश गात्र पिण्ड क्रिया के उपरान्त इन्हें शहद, दूध, शुद्ध घी, गोबर (गाय का) तथा बिल्व पत्रों में धोया जाता है। सुखाकर एक-एक लकड़ी या मिट्टी के डिब्बे या

बर्तन में डालकर मसरू (वस्त्र खण्ड) में लपेटकर दीवार में खोदी हुई जगह रख दिया जाता है।

गंगा में अस्थियों को प्रवाहित करना - चौवरख (चतुर्वार्षिक श्राद्ध) से पहले इन अस्थियों को गंगा में 'हरद्वार' जाकर प्रवाहित किया जाता है। आजकल यातायात की सुविधा के अनुसार चौदह दिनों के भीतर भी प्रवाहित कर देते हैं।

हिन्दू धर्म में इन संस्कारों का उदय सुदूर अतीत से हुआ है। इन संस्कारों के बीज वैदिक वाङ्मय में मिलते हैं। तदनन्तर विभिन्न युगों में स्थान परिवेश तथा भौगोलिकता के आधार पर भी इनकी विधि तथा पद्धति में परिवर्तन तथा परिवर्द्धन हुए हैं। 'गद्दी-समाज' में भी इन संस्कारों में अनेक नई परंपराएं जुड़ गई हैं। ये संस्कार जहां मनुष्य की अन्तर्निहित प्रच्छन्न शक्तियों को जागृत करते है वहां धार्मिक व सामाजिक एकता लाने की इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

कुल्लू की प्राचीन पंचायत–मलाणा

किसी पाश्चात्य लेखक ने भारत को रहस्यों भरी भूमि कहा है। निःसंदेह भारत काफी विशाल और विचित्र देश है, जहां प्रायः सभी देशों का सा जलवायु है और सभी धर्मों के लोग आबाद हैं। इस विशाल देश का एक अभिन्न अंग हिमाचल प्रदेश है, जो अपने तौर पर स्वतः काफी विचित्र और रहस्यमयी है। हिमाचल प्रदेश में जहां एक ओर, ऊंचे-ऊंचे, हिमाच्छादित पर्वत, नदियां और घने वन हैं, वहां दूसरी ओर मैदानों के से गर्म जलवायु वाले इलाके भी हैं। प्रथम सरणी में चम्बा, सिरमौर, किन्नौर, महासु, लाहौल-स्पिीति, कांगडा, कुल्लू, शिमला इत्यादि हैं और दूसरी श्रेणी में कांगड़ा का आधा भाग हमीरपुर, हरिपुर गुलेर, ऊना, नूरपुर, नादौन– मण्डी व बिलासपुर के जिले शामिल हैं। दोनों प्रकार के भू-भागों की भौगोलिक स्थिति उनकी सहज प्रतिकूलताओं को समझने में सहायक होती है।

मलाणा कुल्लू जिला की 'मैली बसती' के अर्थों में जाना जाता है। यह गांव आज के अणुशक्ति-सम्पन्न युग में भी, जबकि समग्र संसार सिकुड़ कर इकाई बन गया है अपनी विचित्र परम्पराओं, सामाजिक गठन, वेशभूषा, बोली, धार्मिक आस्थाओं, आर्थिक एवं प्रशासनिक प्रबन्धों की दृष्टि से न सिर्फ कुल्लू से बल्कि समस्त भारत से बिलकुल भिन्न तथा असम्बद्ध है। अभी कल तक (प्रथम नवम्बर, 66 से पूर्व) यह क्षेत्र भारत के खड्ग-भुज, समृद्ध पंजाब का पिछड़ा हुआ जिला था। कदाचित उसी पसे-मान्दगी के दृष्टिगत पुरोहित चन्द्रशेखर जी ने मलाणा की रूपरेखा इन शब्दों में बांधी है "पंजाब का पिछड़ा हुआ कुल्लू जिला और जिले भर में सर्वाधिक पिछड़ा हुआ कहलाने वाला गांव मलाणा, जिसे आसपास के इलाकों में बात-बात में मलिनताओं, फूहड़ताओं, मूर्खताओं और विचित्र मान्यताओं के संदर्भ में उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार हास्य-व्यंग की प्रत्येक बात बीरबल से जोड़ी जाती है, उपरोक्त विशेषणों को उसी प्रकार यहां 'मलाणा' से जोड़कर प्रकरण को रंजित किया जाता है।"

मलाणा वस्तुतः रूढ़ियों की असंख्य पर्तों के नीचे आ गया है। यहां सभ्यता का रथ प्रायः रुका हुआ सा लगता है। आठ नौ सौ के लगभग लोग, सौ सवा सौ घरों में रहते हैं। बस, यही उनका संसार है! वे बहुधा अस्नापित और गन्दे रहते हैं। एक बार

के पहने हुए वस्त्र तन पर ही चीथड़े होकर टूट जाते हैं, धोने या बदलने का सुअवसर बहुत कम निवासियों को मिलता है। इच्छा ही नहीं, बनाव, श्रृंगार, सुन्दर देखने की जिज्ञासा उनके मन में नहीं। स्वकेन्द्रित से, आत्मनिर्भर, जीवन की गाड़ी को घसीटते जा रहे हैं मलाणवीय लोग। ये किरातों के वंशज हैं और किरात भाषी हैं। जिन दिनों आर्य लोग 'सप्तसिन्धु' पर छाने लगे, तब उन्होंने कुछ द्रविड़ और किरात परिवारों को उत्तर-पूर्व की ओर खदेड़ दिया था। धारणा है कि यवन आततायियों के लगातार आक्रमणों से आतंकित होकर भी कुछ आदि-परिवार निर्वासित हो इन दुर्गम्य घाटियों और कन्दराओं में आकर बस गए। यातायात के प्रसाधनों का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि कहीं से भी कोई व्यवहारिक मार्ग मलाणा जाने के लिए नहीं है। मलाणवियों की दैनिक जीवन की जरूरतें भी बड़ी सीमित हैं। वे केवल नमक या तेल की तलाश में ही गांव से बाहर आते हैं, वह भी वर्ष में दो तीन बार। इसके लिए उनका निकटतम स्थान जारी है। गुड़ या खाण्ड के स्थान पर वे मधु (शहद) का खुला प्रयोग करते हैं जो मलाणा में प्रर्याप्त परिमाण में मिल जाता है। धान, गेहूं, इत्यादि फसलें जो अल्प-श्रम साध्य हैं, वहां खूब होती हैं। वे चावल खाते हैं या फिर मक्की की मोटी-मोटी रोटियां कुल्थ या मोठ की दाल से खाते हैं। काठू और 'गांघड़ी' की भाजी और रोटी भी बनाते हैं। भरठ (सोया-बीन) की भाजी बनाते हैं। दूध के लिए भेड़, बकरी और गाय रखते हैं। चायपान का रिवाज वहां नहीं पहुंचा—हां चावलों की सड़ान्ध से लुगड़ी अवश्य तैयार करते है और इसे 'सोम रस' समझ कर पीते हैं।

मलाणा, अन्तर हिमालय के एक दुर्गम स्थान पर बसा हैं जो समुद्र स्तर से आठ-नौ हजार फुट ऊंचा है। व्यास और पार्वती नदियों का संगम भून्तर में होता है। इस संगम-स्थल के उस पार 'बिजली महादेव' वाली पर्वतमाला बारह मील तक अनवरत चली गई है, जिसके एक ओर व्यास और दूसरी ओर चंचलवेग से वहती हुई पार्वती है। आगे आठ मील लम्बी एक-दूसरी पर्वत-श्रेणी पूर्व-मणिकर्ण की तरफ से आती है, जिसे मलाणा से आने वाला एक द्रुतगामी नाला काटता है। मलाणा इन दोनों पर्वत श्रेणियों के ठीक मध्यवर्ती खोर में है। इस नाले के दायीं ओर, जरी से उस पार सामने 'चौकी' नाम का छोटा-सा गांव है। बस यही गांव मलाणा पहुंचने के लिए पहला पड़ाव है। यहां से आगे सात मील की चढ़ाई है, राह में विकट चट्टानें हैं जहां फिसलने का भय बराबर बना रहता है। दूसरा मार्ग नगर से चन्द्रखणी जोत होकर जाता है। चन्द्रखणी 1250 फुट की ऊंचाई पर है, अतः वहां बर्फ जमी रहती है। यह केवल पांच छः महीने गर्मी और बरसात में खुलता है। तीसरी पगडण्डी है मणिकर्ण से रशोल होकर, मगर बहुधा लोग पूर्वोक्त दो दिशाओं से ही मलाणा पहुंचना सुगमतर समझते हैं।

अल्प जनसंख्या वाली मलाणा की विचित्र बस्ती पर देवता "जमूमलू" का अखण्ड राज्य है। यहां का प्रशासनिक ढांचा ब्रिटेन की राज्य परम्परा का उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करता है। कहते हैं प्राचीनकाल में ऋषि जमदग्नि ने यहां तपस्या की थी। उक्त नाम का ही अपभ्रंश रूप जमलू है। यहां की पंचायत बहुत प्राचीन है और उसका संगठन

ही वास्तव में मलाणा के जनतन्त्र की विशेषता है। देवता की छत्रछाया में तीन व्यक्ति प्रमुख माने गए हैं—कारदार (कर्मिष्ट), गूर और पुजारी। गूर 'जमलू' का मुखांग कहलाता है, पुजारी देवालय में पूजापाठ और धर्मकर्म सम्बन्धी मामलात का अधिकारी है। कारदार पर इन सबकी जिम्मेदारी है। वही पंचायत का सरपंच तथा गांव का मुखिया होता है, क्योंकि वह जमलू 'देऊ' का सक्रिय प्रतिनिधि माना जाता है। मलाणा में आठ मौलिक वंश हैं, जिनका एक-एक प्रतिनिधि 'ज्येष्ठांग' के लिए चुना जाता है। मलाणा-कोरग (संसद) द्वारा इसके सदस्य चुने जाते हैं। जेठरा (ज्येष्ठांग) कोरम की समिति अनुकूल निर्णय करती है क्योंकि संसद के दोनों सदनों का अधिवेशन एक साथ होता है और फैसले सर्वसम्मति से होते हैं। विवादास्पद मामलों पर गूर में 'देऊ' का आह्वान करके उसकी स्वीकृति ली जाती है, जो सर्वमान्य होती है। मतदाताओं की सूचियां नहीं बनाई जाती और न ही मतदान होता है, मगर चुनाव अवश्य होते हैं। निर्वाचित आठ सदस्यों में से किसी की मृत्यु हो जाए या वह किसी और कारणवश पद-च्युत हो जाए तो 'ज्येष्ठांग' के आठों सदस्यों का चुनाव पुनः करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त गांव के हर परिवार का एक वयस्क कनिष्ठांग (लोकसभा) का सदस्य होता है। चूंकि ये सदस्य वर्ष में बारी-बारी बदलते रहते हैं इसलिए इस सदन का प्राचीन नाम 'बारी' है।

जमलू देवता की इच्छा ही इस अद्भुत जनतन्त्र का संविधान है। 'ज्येष्ठांग' गूर के मुख से 'देऊ' के विचार जानती है, क्योंकि जमलू-सम्राट की पहुंच तो वहां के हर मनुष्य के हृदय तक है। और वह 'देऊ' का ही वरदान है कि मलाणा का गणतन्त्र समय के अनेक उलटफेर हो जाने पर भी आज अक्षुण्ण एवं सुरक्षित चला आ रहा है। सारे भारत भर में अंग्रेजों का आधिपत्य कायम हुआ, मगर देश के इस दूरस्थ कोने में बसा यह छोटा-सा गांव स्वायत्त एवं सर्वार्थ-साधक होने का दम भरता था। स्वयं अकबर महान ने भी जमलू की सत्ता स्वीकारी थी। इसकी पुष्टि करती है अकबर की सोने की मूर्ति और चान्दी का घोड़ा जो आज भी मौजूद है। अकबर बादशाह ने जिस समय देश के विभिन्न राजाओं और सामन्तों को अधीन बनाने की इच्छा से कर लगाया तो मलाणा के अधि-पति जमलू से भी सोने का एक टका (दो सिक्के) उगाह लिया। जमलू सम्राट ने इस उगाही को अपना अपमान समझा और वह क्रुद्ध हो गया। परिणाम स्वरूप समस्त कुल्लू अंचल नाना रोग व्याधियों में ग्रस्त हो गया। इस प्रकोप और संकट के दृष्टिगत दूसरे देवताओं ने अपने गूरों द्वारा कुल्लू के राजा को बताया कि बड़ा देवता रुष्ट है। अनुरोध करने पर जमलू ने राजा को बताया कि जब तक वह सोने का टका मुगलवंश के कोष से नहीं लोटेगा, ये उपद्रव ऐसे ही बने रहेंगे। राजा कुल्लू स्वयं अकबर महान् के हुजूर में पेश हुआ और सारा माजरा बताया। अकबर ने कुल्लू को कोई अपौरूषेय चमत्कार दिखाने की शर्त रखी और कहा कि ऐसा न कर पाए तो इसे तुम्हारी कुचाल समझ कर उचित दण्ड दिया जायेगा। राजा कुल्लू अजब धर्म संकट में पड़ गए। हार कर जमलू का ध्यान किया। जनश्रुति है कि उस रात दिल्ली में इतना हिमपात हुआ कि समस्त राज-

धानी बर्फ से सफेद हो गई।

शहनशाह देवता की करामात से न केवल पराभूत हुआ, अपितु जमलू का श्रद्धालु भक्त भी बन गया और उसने जमलू के दर्शन करने की इच्छा की। वर्षों की दुरूहता और अन्य असुविधाओं का जिक्र करके कुल्लू के राजा ने विशेष आग्रह से अकबर महान को मलाणा की जियारत से रोका। तब उसने अपनी मूर्ति (जिसका वर्णन हो चुका है) देवता के हजूर में भेजी थी जो अब भी मौजूद है और फागली (मेला) के अवसर पर देवता के दरबार में पास ही बिठाई जाती है और एक भेड़ हलाल करके सत्कारी जाती है।

मलाणवी अतिथि-सत्कार में विशेष रुचि रखते हैं। बाहर की सरकारों के भगोड़े अपराधी वहां पनाह पाते हैं। पुराने राजाओं के जमाने में मलाणा पहुंचे हुए अभियोगी अदण्डय माने जाते थे। बहुधा अपहरण के अपराधी जोड़े ही मलाणियों की शरण जाते थे। और एक बार जाकर जीवित नहीं लौटते थे।

मलाणा की सामाजिक जिन्दगी बड़ी लचीली, और दाम्पत्य सम्बन्ध बड़े ढीले ढाले हैं। इस बस्ती में निकटवर्ती लाहौल व स्पीति जिला के निवासियों में मान्य 'बहु-पति' प्रथा अब भी है। इसका प्रत्यक्ष और निश्चित फल यह है कि मलाणवियों को परिवार नियोजन की विकराल समस्या से कभी दो चार नहीं होना पड़ेगा। इनकी इस विलक्षणता से प्रभावित होकर एक अंग्रेज प्राध्यापक मि० रौसर ने सन् 1951-52 में मलाणा पर शोध कार्य किया था और उस पर उन्हें आक्सफोर्ड विश्व-विद्यालय ने डाक्ट्रेट की उपाधि से विभूषित किया था। मगर यह खेद का विषय है कि विज्ञ रौसर महोदय की उक्त रचना से भारतवासियों को कोई ठोस लाभ नहीं पहुंचा। उनकी 'मलाणा' नामक पुस्तक आज यहां अलभ्य है। इससे भी अधिक खेद इस बात का है कि किसी भारतीय जिज्ञासु ने आज तक कोई प्रामाणिक शोध इस विभाशायी उप-द्वीप के बारे में नहीं किया। स्पष्टतः यह जोखिम का काम है और उत्कट जिज्ञासा तथा पर्याप्त सरकारी सहयोग के बिना परिपूर्ण होना संभव नहीं। किंवदन्ति है कि स्पीति निवासी दो भाई अपने परिवारों समेत यहां आकर आबाद हो गये थे। मगर तथ्यों से यह प्रमाणित नहीं है। इनकी बोली 'कणांशी' या कणांश है। इस आधार पर इन्हें भोटिया वंशज अधिक समझा जाता रहा है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हालात बदले हैं और विगत वर्ष वहां एक रेडियो सैट भी आ पहुंचा है। और लोग स्कूल खुलवाने पर भी सहमत हो गये हैं। असल में बात यों है कि देवता 'पढ़ाई' पसन्द नहीं करता, इस भय से कि विद्यार्थियों को जमलू का कोप भोगना पड़ेगा, मां बाप बच्चों को पाठशाला नही भेजते। यों शिक्षा विभाग की सूची में हर वर्ष मलाणा के लिए स्कूल खोलने की व्यवस्था रहती है। सुना गया है कि अब देवता को मलाणवियों ने राजी कर लिया है और अब स्कूल सफलतापूर्वक चल सकेगा। पंचायत विभाग से अनुदान इत्यादि लेने को भी मलाणा की प्राचीन और अनोखी पंचायत अब उत्सुक जान पड़ती है। यह सब होने पर भी मलाणा की यह मैली बस्ती काफी पीछे और पिछड़ी हुई है और कदाचित् इसी पसेमान्दगी के कारण एक विशिष्ट आकर्षण प्रस्तुत करती है।

गाती धरती कांगड़ा की

कांगड़ा घाटी के लोक गीतों में पहाड़ी झंजोटी बहुत लोकप्रिय है और यह सामान्यत गाई जाती है। शास्त्रीय स्तर पर इस झंजोटी का विशिष्ट स्थान है, और इसके रसिक इसे शास्त्रीय सुर ताल में गा बजाकर अद्‌भुत समा बांधते हैं। खुद उल्लसित, और सुनने वालों को रस विभोर करते हैं। मगर प्राय: जन साधारण इसे राग की बन्दिशों से मुक्त होकर सहज स्वरों में गाते हैं। वे किसी राग के विशुद्ध स्वर प्रयोग में नहीं लाते। इन लोक गीतों में विभिन्न स्वरों का सरल प्रयोग रहता है।

इन लोक गीतों में कुल्लू के सेबों का रस है, हिमालय की गोदी में खिलने वाले नाना विध पुष्पों की खुशबू है और इसके साथ-साथ है धौलाधार की पिघली बर्फ की ठण्डक, जिसका श्रोतागण चाव एवं उत्सुकता से आस्वादन करते हैं। जरा कल्पना कीजिए बादलों से ढका नीलाकाश, ऊंची घाटी पर बैठा युवक अपने अधरों पर बांसुरी टिकाए पूरे स्वर से जिस संसार की सृष्टि करता है, वह कितना मोहक, कितना निराला और सुन्दर होगा! थिरकती उंगलियां, फड़कते होंठ, मगर उदास चेहरा वस्तुत: उसके मन की व्यथा का द्योतन करने में समर्थ है। प्रणय की मूक अठखेलियां तथा भाग्य के थपेड़ों को हंसकर सहना इनकी सहज प्रक्रिया है। शायद उसकी 'गोरी' (प्रियतमा) अकारण ही रूठ कर कहीं चली गई है, दूर, बहुत दूर, अत: विरहाक्रांत हृदय गाता है—

बदलां दी ठण्डी छां गोरिए···
इक सुखे दा देई जा सुनेहा गोरिए।
तिज्जों कियां करी मिलणे आवां गोरिए।
इह हाल दिलेदा लैंजा गोरिए।

और फिर कहता है—

दिल देई पछताया······ओ।
कजो दिल तड़पाया······ओ।

उधर गोरी का मन कहीं और ही अटका हुआ है—दूर धुंधले नीलाम्बर के नीचे 'गोरी' क्या कहती है, यह भी सुनिए—

गोरी दा मन लग्गा चम्बे दियां धारां
घर-घर टिकलू घर-घर बिन्दलू

घर-घर बांकियां नारां।
गोरी दा मन लग्गा···
चम्बे दे चुगाने ढोलक बज दी,
जम्मू तां बजदा नगारा।
गोरी दा मन लग्गा···

यह सच है कि कांगड़ा का एक-एक पत्थर गाता है। कल कल निनाद करती नदियां, सांय, सांय करता उन्मुक्त पवन और अनोखी अदा एवं मौज से बहती नदियों का निर्मल जल जब इन पत्थरों और चट्टानों से टकराता है, तो एक ऐसा उग्र गीत उत्पन्न करता है, मानो साक्षात् शिवशम्भू तांडव नृत्य कर रहे हों। ऐसे शांत मगर उन्मादक वातावरण को पाकर लोक-कवि अनायास ही गा उठता है—

जीणां पहाड़ां दा जीणां···तेरी सो···
इक-इक नालू, दो-दो कुआलू,
डंगरियां चार दे रिड़िया गुआलू
बर्फां दा पाणी पीणा, तेरी सो···
जीणां पहाड़ां दा जीणां···
उच्चियां-उच्चियां सैलियां धारां···
बांके बांके गभरू, बांकियां नारां···
बांका उन्हां दा जीणां, तेरी सो···
जीणां पहाड़ां···

जीवन में निराशा की काली घटाएं छा रही हों या सुनहरा भविष्य समक्ष मुसकरा रहा हो, अपने संघर्ष को झेलने एवं अपनी कुण्ठाओं को भूलने के लिए ये लोक गीत ही तो हैं, जो कतिपय सहज पूर्णता जुटाते हैं। लोक-कला, लोक-जीवन में पलती है और उसी का प्रतिबिम्ब होती है। जन साधारण का सीधा-सरल जीवन इन सीधे सरल गीतों में उमड़ पड़ता है। निःसन्देह ये गीत उनकी अमूल्य निधि होते हैं। इनके शिल्प, विधा और छन्द को सीखने लोक-कवि कभी किसी स्कूल या प्रशिक्षण केन्द्र में नहीं गया; परन्तु अपने चहुं ओर के माहौल से प्रभावित होकर वह इनकी सहज सर्जना करता है। अलंकार और छंदों के बन्धन को छोड़कर वह वास्तविकता का ज्यादा खयाल रखता है। घरेलू-जीवन की साधारण समस्याओं का प्रकटीकरण लिए हुए यह गीत द्रष्टव्य है, जिसमें एक विरहिणी चिर से विदेश गये पति को घर बुलाना चाहती है। लालसा तो वस्तुतः मिलन की ही है, मगर बहाना खूब ढूंढ़ती है—

मैं लिखी लिखी भेजां कोरियां कागदां—माहिया,
तेरीया भैणां दा लिया है व्याह—
तुसां घर आई जाणां।

परन्तु सचमुच ये मर्द लोग भी बड़े कठोर हृदयी होते हैं—

मैं देई भेजां दरम्मां गोरिए,
मैणां दा करी देणां ब्याह—
कि साड़ा ओण नीं हुंदा।"

स्पष्ट है कि इन गीतों में जन साधारण के वास्तविक जीवन की झांकी मिलती है। प्रकृति के खुले प्रांगण में बसने वाले इन ग्राम-वासियों के जीवन में जहां दुःख और निराशा है, वहां वे आनन्द और उल्लास के कतिपय क्षण जुटाने में कभी कोई कसर उठा नहीं रखते। उनके अनेकों तीज-त्यौहार और उत्सव इस तथ्य का प्रमाण हैं। ये आयोजन होने पर विभिन्न लोकगीतों की भी रचना हुई है। फसल पक चुकी है, अपनी मेहनत का फल कृषक घर ले आया है। अहा! कितना प्रसन्न है आज वह, और उसकी पत्नी! मेला जो है पास ही; क्या कहता है वह—

(1) सुनियार सुन्ने दियां लड़ियां जिन्दे,
तू तां रोई रोई कर न अड़ियां जिंदे,
मेले चल जमादारा—
(2) सुनियार सुन्ने दियां लरजां जिंदे—
गोरी रोई रोई करदी अरजां जिंदे,
मेले चल जमादारा, मेले चल—

इन गीतों की परम्परा बहुत अनोखी है। ये गीत बेटी को अपनी मां से, बहु को सास से प्राप्त होते चले आ रहे हैं। तभी तो ये जीवित हैं और उतने ही प्रभावोत्पादक भी।

कांगड़ा ने निर्धनता के दिन भी देखे हैं और वह युग भी जब यहां के अनपढ़ "मुण्डू" (युवक) मैदानी नगरों में जाकर घरेलू धंधों में लाला—महाजन लोगों की चाकरी करते थे। एक ऐसे ही पति की पत्नी उससे असंतुष्ट हो जाती है क्योंकि वह सारी उमर निर्धन ही दिखता है। गरीब पति उसे समझाता है—

पति—खाणे-पीणे जो थालु-कटोरू,
पाणी पीणे जो कूजा,
तेरी तां मेरी नहीं जे बणदी,
खसम करी लै तूं दूजा।
पत्नी—होरनां दे बागे सब फुल्ल फुल्ले,
मेरे बागे फुल्ल गोभी—
खाणे पीणे दा लालच कोई ना,
नैणां तेरियां दी लोभी।

पति का 'विछोह' पत्नि का सबसे बड़ा दुर्भाग्य माना जाता है। मगर वह जानती है कि परिवार की पालना भी उसका धर्म है और वह नौकरी पर जाएगा जरूर। यह एक ऐसी सच्चाई है जो टल नहीं सकती फिर भी प्रयत्न करती है बेचारी—

पल भर बही लैणां, दुख-सुख कही लैणां
कही लैणां ओ···लोका बही—
पल भर बही करी दो गल्लां करी लैणियां—
कदी हस्सी लैणा कदी अक्खां भरी लैणियां
मने दा दुख-सुख कही लैणा···ओ लोका—

मगर जाने वाले कब रुकते हैं—हृदय पर पत्थर रखकर वह चल देता है—गोरी की आंखों में बरसात उमड़ आती है—द्रवित हुआ वह उसे सांत्वना हेतु कहता है—

न कर गोरी मैली अक्खियां
अस्सां परदेसियां टुरी जाणां···
नदी नाम संजोगी मेले;
कुण जाणे कदी मुड़ी
जिन्दे···असां टुरी जाणां

यही नहीं, कांगड़ा की वीर-भूमि ने देश की रक्षा—सेवाओं के निमित्त जो उत्सर्ग और कार्य किया है, वह उज्ज्वल मणि की भान्ति देश के भाल पर चमचमा रहा है। सेना में हजारों की तादाद में जवानों ने अपना बलिदान देकर अपनी धाक बिठाई है। परम्परागत चली आ रही अपनी वीरता और शौर्य का परिचय कांगड़ा के सपूतों ने चीनी आक्रमण के समय खूब दिया। फिर 1965 के पाकिस्तानी हमले के दौरान भी शत्रु के दांत खट्टे करके उन्हें छठी का दूध याद दिलाया। इस प्रकार इस पिछड़े भूभाग ने देश भर को जतला दिया कि रक्षा कार्यों में वह प्राण न्योछावर करने में भी तत्पर रहा। कितना बड़ा दिल होता है इन रण बांकुरों का—जो अपने वृद्ध मां-बाप, अपने बीबी-बच्चों को छोड़ कर शीष हथेली पर लिए रण-क्षेत्र में जाते हैं। रोकने पर भी नहीं रुकते। सैनिक जीवन से सम्बन्ध रखने वाले इस लोक-गीत में सैनिक की जवान पत्नी की विरह-व्यथा का सजीव चित्रण हुआ है—

पत्नी—ओ मेरपा फौजी माणुंआ,
तू छेती घर आ।
तेरी रत्नियां दा दिल नहीं लगदा।
रौशन (पति)—ओ मेरिए बांकिए रत्निये
मैं छेती आवांगा—तेरे
रौशन दा मन भी नहीं है लगदा—
पत्नी—राह तेरी दिक्खी के हारी गई अक्खियां
रोई के दिन बीते तड़फी के रत्तियां।
हुण होर न तू तड़पा—तू छेती घर आ।

अब जरा एक बानगी हास्य (विनोद) की भी देखिए। इस प्रदेश में देवर-भाभी के सम्बन्ध को लेकर भी रोचक गीत गाए जाते हैं। देवर भाभी से रूठ चुका है, वह उसे

मनाने का प्रयत्न करती है—

(1) भत्त खाई लै बो देरा—भत खाई लै
भाभिआ दे हत्थे दा भत्त खाई लै—

(2) रुस्सी बैठदा, तूं गल्लां नी करदा
ठण्डियां आहां तूं भरदा।

इसी प्रकार "कूंजां दा गीत" भी इस आंचल का बहु प्रचलित गीत है। उसमें भाभी अपने देवर को बुलाने में व्याकुल होकर गाती है—

(1) कूंजा जाई पइयां पपरोले,
भाभो रोंदी दुखड़े खोले।
इकपल आई जायां दयोरा।
ओ मेरेया लोभिया दयोरा।

(2) कूंजा जाई पइयां नदौण...
ठण्डे पाणी ते निर्मल नौण
इक बरी नौही जायां दयोरा।

निःसन्देह इन गीतों के पीछे एक इतिहास है; एक करुण गाथा है। एक अमर प्रेम की कहानी है जिसके नायक तथा नायिकाएं हो गुजरे हैं। मोहन, गद्दी, हरिसिंह और कोलां, रांझू और फुलमूं, कुंजू तथा चंचलो, सुभद्रो और बजीर कितने ही प्रेमी जोड़े हो गए हैं जिनके अमर प्यार की कसक और वेदना इन लोकगीतों में आज तक अक्षुण्ण है।

कांगड़ा के धार्मिक गीत

कांगड़ा जन-जीवन का किसी भी दृष्टि से अध्ययन आरम्भ करें, निष्कर्ष में दो आधारभूत बातें सामने आएंगी। इन में पहली बात है जन-जीवन में व्याप्त नैसर्गिक माधुर्य और दूसरी विशेषता है "कांगड़ुओं" की अदम्य सुदृढ़ता। हिमाचल प्रदेश तीर्थों की धरती है। इस प्रदेश का मुख्य भाग— त्रिगर्त यानी कांगड़ा मूलतः एक धार्मिक आंचल रहा है। भारत के किसी और प्रान्त में इतने अधिक मंदिर तथा देवालय शायद ही होंगे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि कांगड़ा के स्वर्ण-लदे मंदिर और उनमें विद्यमान अतुल धनराशि विदेशी आक्रान्ताओं की क्रूर कुटिल लालसा को प्रज्वलित करती रही है। भले ही यहां से सैंकड़ों मन सोना तथा मुहरें लूट कर गजनी चला गया, मगर इससे यहां के शीलधन किंवा यशोधन का ह्रास न हुआ।

"कांगड़ुओं" का सरल जीवन धर्म से सर्वथा ओत-प्रोत है, ये सीधे-सादे लोग, इस कदर ईश्वरावलम्बी हैं कि जरा-सी बात को, छोटी-सी आपत्ति को भी किसी देवी या देवता का 'कोप, (खोट) मानते हैं और तुरन्त अपने कुल-देव या देवी के मंदिर की तैयारी करते हैं और मन ही मन माता या "बाबा" (बालक नाथ, या पीर स्लूही वाला) की मन्नौती मानते हैं। यदि तत्क्षण जाना असम्भव हो — घर का 'अगुआ' सेना में हो —तो "माता" से कुछ समय के लिए छुट्टी की याचना की जाती और ऐसा करते समय परिवार की कोई, सास या ज्येष्टा बहु अपने कानों की बालियां या हाथ की अंगठी खोलकर रखती है और सब प्रतिज्ञा करते हैं—"हे माता रानी, अब ये गहने तभी पहनेगी जब हमारा बेटा, भाई या पति छुट्टी पाकर मोर्चा से घर आएगा और उसे लेकर हम तेरे दरबार में हाजर होंगे—तेरी अनुमति से ही तब सब की साक्षी में यह पूरे जेवर धारण करेगी—।"

आप सोचेंगे, 20वीं शती के इस वैज्ञानिक, प्रसाधन-सम्पन्न, अणु-युग में भी यहां के लोग इतने धर्म-भीरु है ? तो हमारा उत्तर है, हम पहले कह चुके हैं कि धर्म के मामले में न केवल कांगड़ू ही अपितु समस्त हिमाचल प्रदेश के निवासी अपने देवताओं पर अन्ध-विश्वास एवं अटूट श्रद्धा रखते हैं। यह विश्वास एक सुगम रूढ़ि तथा मधुर परम्परा में बदल गया है और शिक्षित और अशिक्षित दोनों वर्ग के नर-नारियों को समान रूप से प्रभावित किए हुए है।

आओ, इस धर्मान्धता के सूत्रों को हम कांगड़ा के लोक गीतों में ढूंढने का प्रयत्न करें। हमारे धर्म-सम्बन्धी ये गीत दो प्रकार के हैं : प्रथम वे जिन्हें यात्रा (जातरा) चढ़ते समय एवं "पंधाड़ी" चढ़ाने जाती हुई स्त्रियां गाती हैं। और दूसरे वर्ग के गीत वे हैं जो यहां के मेलों तथा पर्वों के अवसर पर स्त्री तथा पुरुष दोनों लम्बी सुरीली हेक बांध कर गाते हैं, प्रथम कोटि की एक बानगी यहां प्रस्तुत है—

"गोरी अरजां करे सौहरे पास खड़ोई
सांजो लई दे सौहरियां ढोल नगारियां दी जोड़ी—
असां जातरा जो जाना, अज्ज जाणा भला जी···
गोरी अरज़ा करे जेठे पास खड़ोई
सांजो लई देणी जी मींढ़े —बकरियां दी जोड़ी —
असां जातरा जाणां···अज्ज जाणां भला जी···।"

गीत के भाव कितने मधुर, सुकुमार एवं श्रद्धा तथा कृतज्ञता निरूपण लिए हुए है। 'गोरी' यानी घर में 'बहू' अपनी मनोकामना पूरी पाकर 'बाबा बालक नाथ' के तईं शत-शत बार नमन करती है और आज ही उनके दर्शन हेतु यात्रा पर रवाना होने को लालायित हैं। मगर वह तो साधन विहीन है। बाबा की यात्रा पर जाएगी कैसे ? उसे बाजे-गाजे (ढोल नगारों, शहनाई इत्यादि) तथा बाबा की भेंट हेतु एक मेंढ़ा और एक बकरा भी पेश करना है। यह सब जुटाने की उत्कट आकांक्षा लिए 'गोरी' कभी अपने ससुर महोदय की मिन्नतें करती है और कभी अपने पति के ज्येष्ट भाई (जेठ) साहब के आगे कर बद्ध होकर प्रार्थना करती है। भला किसमें इतनी कठोरता होगी जो इस निरीह अनुनय को ठुकरा सके। वह जो कुछ पिछली बार 'बाबा' जी से मांग आई थी, वह उसे आज प्राप्त हो गया है। उसकी उपलब्धि वास्तव में सारे परिवार की वृद्धि है उसकी खुशी समग्र गांव की खुशी है।

बाबा द्वियोट सिद्ध की यात्रा पर जब कभी किसी गांव के निवासी रवाना होते हैं तो उनके हाव-भाव, वस्त्र, जेवर और संग में दो-चार जोड़ी घोड़े, खच्चरें, नाई, पुरोहित, वाद्य-वृन्द (ढोलची, शहनाई वादक) और सबसे आगे-आगे ध्वजाधारी, (घर का अगुआ) भेंटें और बकरे की जोड़ी के संग श्रद्धा-विभोर हुआ चलता है। स्त्रियां और पुरुष—दोनों वर्ग—गाते चलते हैं। घोड़ों के गले में बंधी घण्टियों की मधुर आवाज इस सब पर एक अनूठा श्रुति-प्रिय मधु घोल जाती है और ऐसा लगता है मानों यह मनोहारी दृश्य मध्य-एशिया के किसी अर्बी देश के मरुस्थल में से गुजरते हुए सरदारों के लम्बे कारवां की मिसाल पेश करता हो। जिस-जिस गांव या कस्बे में से यह काफला (यात्रा वाले) गुजरता है, वहां के बाल वृद्ध अपना काम छोड़कर श्रद्धापूर्वक पांच मिनट के लिए यात्रा वालों के देखने सुनने को खड़े हो जाते हैं तथा मन ही मन उनके भाग्य को सराहते हैं। ऐसी लम्बी एवं कठिन यात्रा में, जो गीत वे गाते हैं, उसका एक उदाहरण यहां द्रष्टव्य है:—

"बाबा तारया बाटाड़या जातरु दूरा त आए
ढोल नगारे जोड़ियां लई ने आए
बाबा तेरिया बाटड़िया···
असां मेंढे-छेलू दी जोड़ियां लई कन्ने आए···
हुन दिलां दीयां सुखणां पूरियां पाई आए···
बाबा तेरिया बाटड़िया जातरु अज दूरां ते आए···।।"

यह सच है कि शिक्षा के प्रसार ने अब स्थिति बदल दी है और पंचायती राज तथा अन्य सामूहिक विकास योजनाओं ने कांगड़ा जन जीवन पर भौतिक तथा आर्थिक पहलुओं से यथेष्ट प्रभाव डाला है। अनेक धारणाएं अब बदली सी मालूम पड़ती हैं मगर यह सब अभी भी यहां के मूल सांस्कृतिक ढांचे को केवल छूने ही पाया है। कांगड़ा का लोक साहित्य यहां का लोक मानस है और उसे पढ़ने का एकमात्र साधन या माध्यम यहां के लोकगीत ही हैं।

एक प्रसिद्ध पहाड़ी गीतकार "बघेर राजा" साहब ने "कांगड़े दा टिल्ला" नामक एक गीत रचा था, उसने इतनी ख्याति प्राप्त की कि आज यहां के धार्मिक लोक गीतों में उसका अपना विशिष्ट स्थान है :—

कांगड़े दा टिल्ला···
कागड़े दा टिल्ला वे अड़या···हिमाला उसदे पास वे
कांगड़े दे टिल्ले ते अड़या···देवी करदी वास वे
ज्वाल माई इत्थु वसदी···कुल्लू वसदे महेश वे
बर्फानी टोपी पहनी खलोती···उच्ची धौलाधार वे
कुहलां खड्डा एत्थु वगदियां···एत्थु वगदी व्यास वे
एत्थु बगदी व्यास वे अड़या···बुझदी सब दी प्यास वे

"कांगड़े दा टिल्ला" या यों कहें कांगड़ा की देव-भूमि केवल कांगड़ूओं को ही प्यारी है, सो बात नहीं। कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली, लखनऊ तथा अन्य प्रान्तों से भी यात्री यहां के मन्दिरों में जात्रा को आते हैं। मगर स्थानीय जात्रुओं की बात दूसरी है। जब भी उनकी कोई मनोकामना पूरी हुई कि झट यात्रा का अवसर जुटा। फिर इन मंदिरों के स्थानों पर जुटने वाले मेलों में इनका जाना एक सहज धर्म है। जिस घर में कोई मृत्यु एवं अन्य कोई अशुभ हुआ हो वे लोग मेले में नहीं जाएंगे। विभिन्न-विभिन्न स्थानों का अपना-अपना अलग महत्व है जिनमें ये प्रसिद्ध हैं—कांगड़ा में वज्रेश्वरी देवी, चन्हयारी देवी, ज्वालामुखी माता, पीर स्लूही वाला, पीर ढोढां वाला, बाबा बालकनाथ, नादौन के शिव भोले नाथ, चिन्तापूर्णि माता, नगरोटा के समीप चामुण्डा माता, बैजनाथ में वैद्यनाथ जी का पौराणिक मन्दिर, उधर हमीरपुर के निकट टौणी देवी, ज्वाला मुखी के निकट अम्बीकेश्वर, सिद्ध अर्जुन नागा, मसरुर में 'सिया राम' का मन्दिर, नूरपुर में ब्रजराज का मन्दिर, रैत के निकट 'पंजा साहिब' (नेरटी में) और इधर धर्मशाला के पार्श्व में भागसुनाथ और घंजर महादेव का मन्दिर कांगड़ा निवा-

सियों के दिलों में इन मन्दिरों तथा वहां स्थापित मूर्तियों का जो धार्मिक महत्व है, सो है, अब ये स्थान अन्य प्रान्तों तथा विदेशों से आने वाले सैलानियों को भी आकर्षित करने लगे हैं।

माता के श्रद्धालु यात्री जब मन्दिर में प्रविष्ट होते हैं तो माता रानी को इस भेंट से पहले सम्बोधित करते हैं :—

सुत्ती है तां जाग माए जालपां···

अकबर कांगड़े ते आया मेरी मां···

नंगी-नंगी पैरी माता अकबर आया···

सुन्ने दा छत्र चढ़ाया मां···

इस भेंट का दूसरा भाग वास्तव में उस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि करता है जब शहंशाह अकबर माता रानी के पराक्रम तथा शौर्य एवं सत्ता का कायल हो गया था और उसने कांगड़ा से ज्वालामुखी तक पैदल यात्रा की थी और वह भी नंगे पांव ! गीत का अगला भाग इस प्रकार है :—

[माता का फरमान]

उच्ची तां चढ़के दिखा मेरे सन्तो,

कितना कि लशकर आया मेरी मां···

[और भक्तजन क्या देखते है।]

इक लख घोड़ा, दो लख हाथी तिन्न लख प्यादा

आया मेरी मां

सुत्ती है तां जाग माए जालपां —

अकबर कांगड़े ते आया···

धारणा है कि अकबर ने दुर्गा माता की ज्वाला शक्ति को नकली होने का दावा किया था। परीक्षा हेतु शहंशाह ने लोहे का एक भीमकाय तवा जोतों पर फिट करवा दिया था मगर प्रचण्ड ज्वाला उसका पेंदा चीर कर बाहर प्रगट हो गई थी।

अब आइए इस धार्मिक गेय तत्व को दूसरी कोटि के गीतों में देखें। यहां के मेलों में 'छिंज' (पहलवानों की कुश्ती प्रदर्शन पर लगने वाला मेला) का विशेष महत्व है। मलयुद्ध करना यहां के वीरों का पारम्परिक शुगल रहा है। आज भी राष्ट्र-सेवा प्रयत्नों में जितना नाम कांगड़ू डोगरा ने कमाया है उससे इस ऐतिहासिक परम्परा की सुचारु पुनरावृति ही हुई है। छिंज (दंगल) में कुश्ती करने वाले एक इकलौते बेटे की वृद्ध मां उसे आज युद्ध (दंगल) में जाने से रोकती है और गाती है :

होरना जो न्यूदा गईयां, मेरे कान्हे जो कागद आए···

इसा छिंजा मत बो जान्दा, इत्त तेरे दुश्मण आए —

इसा छिंजा जाणा माए, इत्त मेरे मामे आए

जब कान्हा (पुत्र) हठ नहीं छोड़ता तो मोह और वात्सल्य में भरी वह उसे दूध घी खिला कर भेजना चाहती है। दूध लेने भैंस के पास जाती है :

दुध दियां मैंसड़िये, मेरे कन्हने ने छिजा जो जाणा
रोज कियां दिदी दो मण, अज तूं मणे पर आई
तू तां मरियां मैंसड़िए, मेरे कान्हे दा रिजक घटाया

एक दृष्टि से यहां इकलौते पुत्र का कान्हा नामकरण कृष्ण का पर्यायवाचक भी लगता है फिर उसका यह कहना कि 'छिजा मेरे मामे आए' मामा से कंस (राजा) के अत्याचारों का सहज भान होता है। इसी प्रकार इन गीतों में लोगों के सुख-दु:ख तथा सामाजिक व्यवहारों का तथा आपसी सम्बन्धों का अनूठा परिपाक हुआ है। दूध-दही की इस धरती पर गउओं की अपेक्षा भैंसे रखने और दुहने का बड़ा रिवाज है। भैंसों को स्वस्थ एवं ज्यादा दूध देने वाली बनाए रखने के लिए यहां की शौकीन नारियां 'पीर' की मनौती रखती हैं अत: यहां 'पीर' के यशोगान का एक गीत प्रस्तुत है :

आंगन मेरे पीपली
मैं तां पीरे मनावन निकली
मैं तां वारी पीरा।

हथ कटोरा दूध दा---
मेरा पीर छिजा विच जुझदा
मैं तां वारी पीरा।

हथ कटोरा छाई दा,
मेरा लालां वाला अज चाहीदा
मैं तां वारी पीरा।

'पीर' यदि प्रसन्न हो गया, तो घर में वर्ष भर क्या पुश्तों तक दूध दही की रेल-पेल रहेगी और परिवार का स्वास्थ्य समृद्ध होगा। दूध घी खाकर ही तो मां के पुत्र हृष्ट-पुष्ट तथा बलशाली बनकर भारत मां की सीमाओं का संरक्षण भार सम्हाल सकेंगे।

अब अन्त में दो शब्द मां ब्रजेश्वरी देवी के नगर यानी 'कांगड़ा शहर चंगा' के विषय में भी, एक भेंट (गीत) यों है :

नी माता राणिए, तेरा कांगड़ा शहर चंगा
हेठ वगदी गंगा, उपर खिड़दा झण्डा
माता राणियां दी सौसठ पौड़िबां—सौसठ पौड़ियां—
चढ़दियां चिर लाया-नी
माता राणिए तेरा कांगड़ा शहर चंगा।

जो मां सर्वथा, हर दिशा में वरदायिनी तथा कल्याणी है, उसकी स्तुति में ये सीधे-सादे नर नारी क्यों न हर दम, हर घड़ी, हर मौसम में मुखरित रहें।

हिमाचल में पूजित गूगा : ज़हर-पीर

हिमाचल प्रदेश के विभिन्न भागों में गूग्गा ज़हर पीर की लोक देवता के रूप में पूजा-अर्चना की जाती है। यहां के जनमानस में गूग्गा के प्रति अगाध श्रद्धा एवं विश्वास है। वह गूग्गा पीर, ज़हर पीर, गूग्गामल चौहान, राजछत्री, गूगा राणा आदि कई नामों से लोकप्रिय है। सूर्य पूजा के साथ ही गूग्गा चौहान की पूजा भी विधान है। इसका मूल कारण यह है कि उसमें सर्पदंश से व्यक्ति को निरोग, स्वस्थ करने की अद्‌भुत शक्ति है। एक जनश्रुति के अनुसार गुरू गोरखनाथ गूग्गल में वासुकि नाग की झाग लाए थे और उसी से गूग्गे का जन्म हुआ था।

जैन धार्मिक साहित्य में गूग्गा को एक शक्तिशाली बृहदप्रचण्ड विषधर चित्रित किया गया है जिसने भगवान महावीर को तीन बार काटा था, परन्तु उन पर कोई भी प्रभाव नहीं हुआ था। तदुपरान्त खिन्न होकर गूग्गा (गोभूमि, गजा) ने अपना फन बिल में डाल दिया और उसके शरीर को चींटियों ने खा लिया। यह सहनशक्ति और अहिंसा में गूग्गे की आस्था दिखाए जाने का आभास मात्र ही प्रतीत होता है।

हमें निःसंकोच रूप से मान लेना चाहिए कि सर्प निवारण दंशोपचार तथा वासुकि-मित्र होने से ही गूग्गा का सर्पों के ऊपर प्रभुत्व रहा है। गूग्गा पीर के पीछे यह धारणा रही है कि वह अपने जीवन के अन्तिम समय में मुसलमान बन गया था और इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था। किन्तु हरियाणा के हिसार जिला में गूग्गा की जो गाथा मिलती है उसमें ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता। हिमाचल, पंजाब, हरियाणा और राजस्थान में गूग्गा चौहान के अनेक मन्दिर हैं और गूग्गा नवमी के दिन श्रद्धालु मेले का आयोजन करते हैं।

गुड़गांव (हरियाणा) में गूग्गा चौहान

हिसार जिले के दाख्हेड़ा ग्राम में जवार नामक मध्यवर्गीय चौहान राजपूत रहता था (अन्य रूपान्तरों में उसे राजा कहा गया है) उसने तथा उसकी पत्नी बाछला ने बारह वर्ष तक गुरू गोरखनाथ के शिष्य सदानन्द की सेवा की, क्योंकि उनके यहां कोई सन्तान न थी। परन्तु इसका भी कोई सुफल न मिला। सदानन्द तो वह स्थान छोड़ कर चला गया, परन्तु गुरू गोरखनाथ अचानक वहां आ पधारे। उनके वहां पधारने से सूखे

वृक्ष पुनः पुष्पित एवं पल्लवित हो गए। इस कौतुक को देखकर बाछला जोगी के दर्शन करने गयी। परन्तु जोगी ने स्त्री को देखकर आंखें बन्द कर लीं तथा मौन बैठे रहे। सदानन्द भी वहां आ गया। उसने गुरू की चमत्कारिक शक्ति का वर्णन बाछला के सामने किया। अन्तिम आयास रूप बाछला ने उसके अंग की बंधी घंटी को छू लिया। इस पर योगी ने आंखें खोलीं और उससे पूछा कि तुम मेरी सेवा क्यों कर रही हो? बाछला ने अपना अभिप्राय कह सुनाया। उसके अनुनय के उत्तर में योगी ने कहा कि सन्तान तुम्हारे भाग्य में नहीं है। यह सुनकर बाछला चिन्ता में डूब गयी। परन्तु वह अपने हठ की पक्की थी। उसने पुनः बारह वर्ष गुरू गोरखनाथ की भक्ति की। बारह वर्ष बाद योगी का वहां पुनरागमन हुआ।

बाछला की बहन काछला की उससे नहीं बनती थी। अतः उसने अपनी बहिन बाच्छला के वस्त्राभूषण धारण किए और योगी के समक्ष उपस्थित हो पुत्र प्राप्ति हेतु याचना की। गुरू गोरखनाथ उसके छद्‌म को भांप गए, परन्तु फिर भी उसे दो फल दिए और खाने पर दो सुपुत्र होने का वर भी। काछला प्रसन्न होकर बहिन बाच्छला के पास पहुंचीं और कहा कि योगी जाने ही वाला है। यह सुनकर बाच्छला दौड़ती हुई उसके पास पहुंचीं और उन्हें रोकर याचना दोहराई। योगी ने कहा कि मैंने तो तुम्हें पहले ही वर दे दिया है। इस प्रकार बाच्छला को पता चला कि काछला, उसे धोखा दे गई है। उसकी निर्दोषता योगी भी जान गए और उन्हें उसे अपनी गुत्थली में से थोड़ी गुग्गल निकालकर दी और वर दिया कि इसे खाने से तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो जाएगी।

जेवार की सहोदरा सनीर देई को सात मास बाद गर्भ का पता चला तो उसने भाई के सामने बाच्छला के सतीत्व पर सन्देह प्रकट किया बांदी सवलादे की अनुनय तथा रानी के निष्कलंक होने का दावा करने पर भी जेवार ने पत्नी को तो मारा नहीं, पर फिर भी पीट-पीटकर महल से बाहर निकाल दिया। जब बाच्छला बैलगाड़ी में अपने पितृगृह को चल पड़ी। सिरसा के मार्ग पर जब वह एकसर्प विवर के पास से गुजरी तो गाड़ी की ध्वनि सुनकर वासुकि नाग ने अपनी रानी को बताया कि गाड़ी में बैठी स्त्री के गर्भ में उसका शत्रु पनप रहा है। उस रानी के उत्प्रेरणा से वासुकि ने अपने पुरोहित द्वारा आस्तीक (जन्मेजय के नाग यज्ञ से सम्बद्ध) को बुलाया यह वासुकि नाग का पोत्र था। उसे आदेश मिला कि बाच्छला को काटे। जब आस्तीक ने गाड़ी पर अपना फन फैलाया तो बाच्छला ने उसे धकेल कर गिरा दिया। तदुपरान्त आस्तीक ने गाड़ी खींचने वाले बैलों में एक को डस लिया। इस समय वे दोपहर को विश्राम करने के लिए रुके थे। इस विपत्ति को देखकर बाच्छला रोने लगी और रोते-रोते सो गई। स्वप्न में एक बालक ने उसे परामर्श दिया कि एक डोरा अपने सिर पर बांधे और उसका दूसरा सिरा बैल के सिर से बांध दें। जागने पर उसने ऐसा ही किया और बैल उठ खड़ा हुआ।

बाच्छला शीघ्र ही सुरक्षित अपने पितृगृह पहुंच गयीं यहां फिर उसे एक बालक दिखाई दिया और उसने उसे वापिस पतिगृह चलने का आदेश दिया। उसने कहा कि यदि वही अपने नाना के घर जन्म लेगा तो यह अपने माता-पिता तथा परिवार के लिए

कलंक होगा। वह उसके कहने के अनुसार पुनः पति के घर लौट आई और यहां जेवार ने उसे एक टूटी फूटी झोंपड़ी रहने के लिए दे दी तथा नौकरों को उसकी ओर कोई ध्यान न देने का आदेश भी दे दिया। वहां पर भाद्रपद की कृष्णपक्षीय अष्टमी को आधी रात के समय गूग्गे का जन्म हुआ। उस समय सारी कुटिया प्रकाशमान हो उठी और सेवारत अंधी वृद्धा दाई को दृष्टि प्राप्त हो गई। जेवार ने इस शुभ अवसर पर बड़ी धूम-धाम से खुशियां मनाई और गरीबों को प्रभूत मात्रा में दान दिया।

बड़ा होने पर गूग्गे का विवाह सुरिहल के साथ हुआ। उसके जुड़वां सौतेले भाइयों ने भरसक प्रयास किया कि यह विवाह न हो। उन्होंने तो यह भी यत्न किया कि सिद्धराजा सुरिहल का विवाह गूग्गे की बजाए उनसे कर दे। परन्तु नारसिंह वीर तथा कैलवीर के प्रयास से गूग्गे के साथ उसका विवाह सम्पन्न हुआ। यह भी कहा जाता है कि तक्षक नाग ने भी सहायता की थी। उसने पुष्प रूप धारण कर सुरिहल को आकृष्ट किया, दंशित किया तथा बाद में ब्राह्मण रूप में गूग्गे के साथ विवाह का वचन देकर तथा विष चूस कर उसे स्वस्थ कर दिया।

एक दिन मृगया से लौटते समय उसने देखा कि उसके पुरोहित की पत्नी नारु पानी भर रही है। प्यासा होने के कारण उसने उससे पानी मांगा। ब्राह्मणी समझी कि गूग्गे उसके साथ उपहास में ही कह रहा है। अतः वह पानी का भरा घड़ा लेकर चली गयी। गूग्गे को क्रोध आ गया और उसने तीर मारकर उसका घड़ा गिरा दिया और वह स्त्री पानी से नहा गयी। प्रतिशोध की भावना से पुरोहित ने गूग्गे के विवाह पर एक सम्पूर्ण ग्राम दक्षिणा में मांगा। गूग्गा पहले ही एक सौ गांव उसे दक्षिणा में दे चुका था। इसलिए उसने और कुछ देने से इन्कार कर दिया। पुरोहित ने अपनी मांग पर जब फिर जोर डाला तो गूग्गे ने उसे अपनी खड़ाऊं से मारा। इस पर ब्राह्मण उसके सौतेले भाइयों के पास गया और उन्हें भड़काया कि वे अपना हिस्सा मांगें। दोनों सौतेले भाई अपना हिस्सा मांगते रहे। इस पर गूग्गे ने नारसिंह द्वारा उन्हें कारागार में डलवा दिया। माता की मध्यस्थता पर उन्हें मुक्त किया गया। जनश्रुति के अनुसार काच्छला के मरणोपरांत बाच्छला ने उन्हें अपना धर्म-पुत्र बना लिया था।

ब्राह्मण के उकसाने पर वे अपना झगड़ा दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान के पास ले गए और उससे न्याय की मांग की। पृथ्वीराज चौहान ने अपने एक अधिकारी गंगाराम को राज्य विभाजन कराने के लिए भेजा। गूग्गे चौहान ने गंगाराम की खूब पिटाई करवाई और उसका मुंह काला करके दिल्ली भेज दिया। वहां जाकर उसने राजा से शिकायत की और उसके कहने पर पृथ्वीराज चौहान स्वयं वहां पहुंचा और पुरोहित को 'गूग्गा चौहान' को बुलाने के लिए कहा। उस दुष्ट पुरोहित ने सलाह दी कि गौओं को घेर कर रख लिया जाए।

गौओं को न आया देख गूग्गे ने पास के 22 ग्रामों के सैनिकों तथा गुरु गोरखनाथ की अदृश्य सेना से राजा पर आक्रमण कर दिया। राजा के सामने जाकर गूग्गा ने अपना भाला भूमि में गाड़ दिया और कहा कि यदि तुम्हारा कोई भी वीर सूरमा इसे जमीन में

से खींच निकाले तो मैं अपना सर्वस्व त्याग कर दूंगा। किसी ने भी इस चुनौती को स्वीकार नहीं किया और दोनों में युद्ध हुआ। गूग्गे ने अपने दोनों सौतेले भाइयों के सिर काट कर अपनी काठी के दोनों ओर बांध लिए। उसने राजा की सेना को परास्त किया और सैनिक घबराकर हिसार दुर्ग में घुस गए। गूग्गे ने उनका पीछा किया और दुर्ग के भीतर जाकर मारकाट मचा दी। अन्ततः राजा ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और गूग्गा से क्षमा याचना की।

जब गूग्गा घर लौटा तो बाच्छला ने पूछा कि किस पक्ष की विजय हुई है। मारे प्यास के गूग्गा का गला तक प्यास से सूख गया। उत्तर स्वरूप उसने दोनों सौतेले भाइयों के सिर मां के चरणों में चढ़ा दिए। इस पर बाच्छला ने कहा कि तुम यहां से चले जाओ और फिर कभी मुझे मुंह न दिखाना। दुःखी और खिन्न गूग्गा एक चम्पक वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया और धरती से प्रार्थना करने लगा कि मुझे अपने में समा लो। धरित्री ने उसे कहा कि या तो तुम योगी रतननाथ से योग सीखो या कलमा ग्रहण करो। रतननाथ के पास जाते हुए मार्ग में उसे गुरु गोरखनाथ मिल गए। उन्होंने उसे योग सिखाया और पुनः धरित्री से प्रार्थना करने पर आश्विन कृष्ण चतुर्दशी को "धौली धरती' नामक स्थान पर भूमि ने उसे घोड़े तथा शस्त्रों सहित अंक में समेट लिया।

भेड़ें चरा रहे गडरिए ने यह दृश्य देखा और जाकर बाच्छला को कह सुनाया। उसकी पत्नी तथा माता पहुंची पर कोई संकेत, चिन्ह आदि न देखकर दोनों घर आ गयीं। सुरिहल रात को रोते-रोते सो गयी। स्वप्न में उसने अपने पति को माला लिए घोड़े पर सवार देखा। प्रातः उसने अपना सारा स्वप्न अपनी बूढ़ी धाय सन्दल को कह सुनाया, जिसने उसे शेष जीवन पूजा-पाठ और भक्ति में व्यतीत करने का उपदेश दिया। उसकी प्रार्थना स्वीकार हुई और परमशक्तिमान ने गूग्गा को आदेश दिया कि प्रति रात्रि में अर्धरात्रि के समय वह अपनी पत्नी से मिलने जाया करे। गूग्गा ने उसकी आज्ञा को तत्काल शिरोधार्य कर लिया। परन्तु इसके लिए उसने एक शर्त रखी कि माता को उसके आने का पता नहीं लगना चाहिए।

एक दिन श्रावण मास के तीज के त्यौहार पर ग्राम की सभी सधवाएं-सोलह श्रृंगार करके बाच्छला के पास पहुंची और उससे अनुमति मांगी कि सुरिहल को भी साथ जाने की अनुमति दे दीजिए बाच्छला ने एक सेविका द्वारा उसे अपने पास बुलाया तो वह सोलह-श्रृंगार करके आई उसने गूग्गा के स्वागतार्थ श्रृंगार किया था। इसी अन्तराल में सेविका ने जो कुछ देखा था उसके सम्बन्ध में बाच्छला से बता दिया। बाच्छला को सन्देह हो गया कि उसकी पुत्रबधू गूग्गा को भुलाकर पतिता भी हो गई है। उसने बहू को सब कुछ सच-सच बता देने को कहा। सुरिहल ने सच बताने से स्पष्ट इन्कार कर दिया तो उसे बुरी तरह पीटा गया।

अधिक मार-पीट सह न सकने पर उसने रात को चोरी-छिपे गूग्गा के आगमन के विषय में बता दिया। बाच्छला को तब भी विश्वास न हुआ और उसे गूग्गा को प्रत्यक्ष दिखाने के लिए कहा। अगली रात जब गूग्गा आया तो बाच्छला ने उसके घोड़े

की लगाम पकड़ने को लपकी, परन्तु गूग्गा ने अपना आच्छादक वस्त्र भूमि तक फैला दिया और मां को कहा कि इसे उठाओ। जब वह उसे उठाने के लिए झुकी तो घोड़े की एड़ी लगाई और उसे मुख न दिखाने की उसी की आज्ञा की याद दिलाते हुए दृष्टि-विगत हो गया। कालांतर में जब दिल्ली जाते हुए मुहम्मद गौरी 'दारुहेड़ा' में पहुंचा तो उसकी सेना के ढोल बजने बन्द हो गए और उसने इसका रहस्य मालूम करने पर गूग्गा की कथा सुनी और वचन दिया कि यदि मैं विजयी होकर लौटा तो इस स्थल पर सुन्दर मन्दिर बनवाऊंगा। इसके अनुसार ही दारुहेड़ा की माढ़ी (मन्दिर) राजा मुहम्मद गौरी ने बनवाया था।

कुल्लू जनपद में गूग्गा-पूजा

उपरोक्त गूग्गा की गाथा के बाद कुल्लू जनपद में प्रचलित आगे की कथा रुचिकर है। इसके अनुसार गूग्गा को डायनों ने खा लिया था। वह ग्वालों के झुण्डों में प्रकट हो जाता और सभी पशु उससे भयातुर हो उठते। जब गूग्गा भूमि से बाहर आता तो पशु उसे देखकर भयभीत हो जाते, ग्वाले भूमि से गूग्गे के निकलते सिर पर 20 मन की गदा से चोट मारते थे। इस प्रकार गूग्गा अर्धप्रकटित ही रह जाता था। इसलिए उसके ऊपरी (दृश्यमान भाग) को ज़हर पीर कहा जाता है और मुसलमानों द्वारा पूजा जाता है। गर्भ स्थित अलक्ष भाग को "अलखदाता" कहा जाता है और हिन्दू इसकी पूजा करते हैं। इस परम्परा में गूग्गा की एक बहिन गूगड़ी मानी गई है और काछला के दो बेटों के नाम और जरेटा चलते हैं। कुल्लू जनपद में यह धारणा प्रचलित है कि इन दो सौतेले भाइयों से गूग्गा का घोर युद्ध हुआ था। कुल्लू जनपद में गूग्गा की माड़ी सुलतानपुर में है। यहां पर गूग्गा और उसका वजीर घोड़े पर सवार हैं और गूगड़ी एक घोड़ी पर। नारसिंह, कालिया वीर तथा गुरु गोरखनाथ भी उसकी जमात में हैं।

कांगड़ा जनपद में गूग्गा पूजा

कांगड़ा जनपद में गूग्गा से सम्बद्ध स्वतन्त्र रुपांतरित कथा कोई नहीं है। परन्तु गूग्गा के अनेक मन्दिर है और उनके साथ सर्पविषनिवारण की अनेक घटनाएं जुड़ी हुई है। यहां कुछ प्रमुख गूग्गा के मन्दिरों का उल्लेख किया जाता है।

सलोह का गूग्गा मन्दिर

यह मन्दिर सलोह ग्राम तहसील पालमपुर में स्थित हैं। कहा जाता है कि इस स्थान पर सम्वत 1866 में गूग्गा प्रकट हुआ था। सम्वत 1900 में मन्दिर का निर्माण हुआ था। यहां का पुजारी घिर्थ (चौधरी) होता है। साधारण-सा मेला प्रति रविवार को होता है। परन्तु विशेष मेले का आयोजन गूग्गा नवमी के दिन होता है। उस दिन दूर-दराज के लोग मन्दिर में आते हैं। मन्दिर में गूग्गा, गूगड़ी तथा गुरु गोरखनाथ की तीन फुट ऊंची प्रतिमाएं जो अश्वारूढ़ हैं। गूग्गा के श्रद्धालुओं में मिट्टी मिश्रित जल का भोग वितरित किया जाता है।

शिब्बो दा थान (मन्दिर)

यह मन्दिर भरवाड़ में कोटला थाना क्षेत्र में स्थित है। कोई 500 वर्ष पूर्व सिब्बो नामक एक नाई गूग्गा की पूजा किया करता था। उसकी भक्ति से प्रसन्न होकर गूग्गा ने उसे एक मन्दिर निर्माण करने को कहा। उसने यहां पर एक मन्दिर बनवाया और उसमें गूग्गा की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कर दी। गूग्गा ने शिब्बो को सर्प विषनिवारण शक्ति प्रदान कर दी और उसे कहा कि जो सर्पदंशित मूर्ति धोकर प्राप्त किए जल का पान करेगा, स्वस्थ हो जायेगा। यहां का पुजारी नाई होता है। श्रवण मास के प्रति रवि-वार को मेला लगता है। मन्दिर में अश्वारोहियों की छः प्रतिमाएं पत्थरों पर उत्कीर्ण हैं। इनकी ऊंचाई एक से तीन फुट तक है। ग्यारह प्रस्तर पिण्डियां है जिनकी ऊंचाइयां एक इंच से तीन इंच तक है। शिवजी की पिण्डी एक फुट ऊंची है।

एक गाय की दो फुट ऊंची मूर्ति भी प्रस्तर पर उत्कीर्ण है। अधुना तो स्पष्ट ही गूग्गा-पूजा का स्थान शिब्बो के पूजन ने लिया है। सेवक फकीर दंशित व्यक्ति को मन्दिर में लिटा देता है और बाबा शिब्बो की स्तुति करता है और उसे मूर्ति धोए जल का पान कराता है। उस स्थल (थान) की कुछ मिट्टी भी उसे खिलाता है और कुछ अंश घाव पर मल देता है। कहते हैं ऐसा करने पर व्यक्ति बहुत शीघ्र ठीक हो जाता है। श्रद्धालु थान की मिट्टी अपने साथ घरों को ले जाते हैं। साधारण मेला प्रति रविवार विशेषतः श्रावण मास में लगता है। श्रावण मास की पूर्णमासी को विशेष मेले का आयोजन किया जाता है। यहां शिव, धेनु, अश्वारोही मूर्तियों सहित ग्यारह नागों की मूर्तियां प्रतिष्ठा-पित हैं और यह मन्दिर शिब्बो का थान नाम से लोकप्रिय है।

कुटियारे का गूग्गा

ज्वालामुखी से नादौन कस्बा जाते हुए ब्यास नदी के इस पार भड़ोली-कुटियारा नामक ग्राम में गूग्गे की एक सुन्दर माढ़ी है। मन्दिर का भीतरी भवन किसी प्रचलित पद्धति पर होकर सामान्य ढंग का कमरा ही है। परन्तु भीतर प्रस्थापित तीन अश्वारोही और दो पदातियों की मूर्तियां निश्चय ही उच्चकोटि की हैं। 200-250 वर्ष पहले इसके निर्माण होने के संकेत मिलते हैं। इस क्षेत्र में प्रायः सुनने में आता है कि इन घोड़ों को दूर से देखकर स्थानीय राजा के घोड़े हिनहिनाने लगे थे। यहां पर तीन अश्वारोही, गूग्गा, उसकी बहिन गूगड़ी और दीवान तथा दो पदाति वीर हैं। गूग्गा नवमी के दिन यहां मेला लगता है और मल्ल युद्ध भी होते हैं।

चेला खेलता है और लोगों के प्रश्नों का उत्तर देता है। यहां सर्प दंश का इलाज भी होता है। दंशित व्यक्ति थान की तीन परिक्रमाएं लेता है और फिर गूग्गे की मूर्ति के सामने दण्डवत प्रणाम करता है। इस तरह कुछ देर करने के पश्चात् सर्प का जहर उतर जाता है। श्रद्धालु यहां पर अन्न, घी, दूध भेंट स्वरूप चढ़ाते हैं और प्रसाद स्वरूप हलवा या मीठी खीलें वहां एकत्रित लोगों में बांटी जाती हैं। कांगड़ा जनपद में पठियार का गूग्गा, टीक्कर का गूग्गा, कटोह के नवमो गूग्गा आदि भी लोकप्रिय मन्दिर है, जहां गूग्गा के

दिन मेला होता है और लोगों में गूग्गे का रोट बांटा जाता है।

हमीरपुर जनपद में भी गूग्गा-पूजा की जाती है। यहां पर भी अनेक स्थानों प
गूग्गे की माढ़ियां हैं, जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं मदली का गूग्गा, जलाड़ी का गूग
किटपल में गंगोटी का गूग्गा वसारल का गूग्गा और ग्वालपत्थर का गूग्गा।

चम्बा जनपद में गूग्गा

चम्बा मुण्डलिख नामक प्रवर वीर जिस पर बाद में देवत्व आरोपित कर दिय
गया, गूग्गा का ही रूपांतर या मानांतर निश्चित हो जाता है। गूग्गा निःसंदेह एक ऐति
हासिक व्यक्ति था और उसने पृथ्वीराज चौहान (1170-1193) के काल में कई यु
मुसलमान बादशाहों के विरुद्ध लड़े थे। अंतिम युद्ध में उसका सिर चक्र प्रहार के कार
धड़ से अलग हो गया था। यथास्थिति टिके सिर से अढ़ाई घड़ियां लड़ता रहा।

उसके सिर और धड़ के बीच पृथक्कारी लीख के कारण उसका नाम मुण्डलि
पड़ गया। कुछ समय पश्चात उसने भू-समाधि ले ली। अपने साज-संगीत के साथ पहाड़
भाट इस वार्ता को सुन्दर ढंग से गाते हैं। कहते हैं कि "मुण्डलीख" की मृत्यु भाद्रपद क
कृष्ण पक्षीय नवमी को हुई थी। इसीलिए इस दिन पहले गूग्गा का श्राद्ध किया जाता
और इस दिन को "गूग्गा नवमी" के नाम से अभिहित किया जाता है। चम्बा जनपद
प्रस्तर मूर्ति में एक अश्वारोही के रूप में उसे दिखाया जाता है और इस मास उसक
सहोदरा गूग्गड़ी तथा वजीर कालू का भी। पूजाविधान देवी के मन्दिरों जैसा ह
प्रचलित है।

चम्बा में गूग्गा के मन्दिर

मुण्डलिख (गूग्गा) के मन्दिर (परगणा तीसा), ग्राम पालेवर (साइक्षेत्र) तथ
शालू (हिगिरि) में स्थित है। शालू में यह गूग्गा मुण्डलिख सिद्ध नाम से जाना जात
है। यह गूग्गा और मुण्डलिख के अभिन्न होने का एक प्रमाण भी माना जा सकता है। इ
सभी स्थानों पर मूर्तियां तो पत्थर की हैं, परन्तु आकार तथा संख्या में असमानता औ
विभिन्नता है। गढ़वाली मूर्ति एक फुट ऊंची है और एक ही है। पालेवार में पुजारी
चेला हरिजन है और यहां भी यह पद वंशानुसार चलते हैं। गढ़ का मुण्डलिख जन्मा
ष्टमी के बाद आठ दिन भ्रमण करने जाता है। पालेवार का मुण्डलिख उससे तीन दि
बाद आता है। जन्माष्टमी के दिन तक गूग्गा के पत्र और सांकल की शोभा यात्रा चलत
है।

मुण्डलिख (गूग्गा) सम्बन्धी लोककथा

राणा मुण्डलिख जो गूग्गा के नामान्तर से भी ख्यात है, एक चौहान राजपूत थ
और उसका राज्य वृंदावन के पास गढ़ ददनेर (दारुहेड़ा) में था। उसके पिता का नाम
देवी चन्द (अन्य रुपांतरों में जेवार) तथा मां का नाम बाच्छला था। कई वर्ष के विवा

हित जीवन में उन्हें पुत्र प्राप्ति न हो सकी। यह स्थिति बाच्छला के लिए विशेष दुख-दायिनी थी। दर्पण में उसने अपना चेहरा देखा और अपने सफेद बालों को देखकर उसने फूट-फूट कर रोना आरम्भ कर दिया। इतने में उसका पति वहां आ गया और रोने का रहस्य पूछने लगा।

बाच्छला ने कहा कि अब मेरे अन्तर में सन्तान-प्राप्ति की इच्छा मर गई है। जब यौवन में ही सन्तान-प्राप्ति न हुई तो अब ढलती उमर में कैसे आशा की जा सकती है। पति ने उसे भरसक सान्त्वना दी, परन्तु बाच्छला पर उसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने निराश होकर वन में घोर तपस्या करते हुए जीवन व्यतीत करने की ठान ली जिसके फलस्वरूप सम्भव है पुत्र प्राप्ति हो जावे। तपस्या एवं त्याग-साधना में उसके बारह वर्ष बीत गए और वह सूख कर कांटा हो गई।

एक दिन उसकी कुटिया में एक अतिथि आया और बोला कि मैं गुरु गोरखनाथ हूं। उसने यह भी पूछा कि वह ऐसी तपःसाधना क्यों कर रही है? उसने अपनी सारी दुःख व्यथा जोगी को सुना दी। एक राजपूत राणा की पत्नी होने के नाते धन, मान, वस्त्र-भूषण एवं सुख साधन सभी उपलब्ध है पर ये सब कुछ वंशावली चलाने वाले पुत्र के अभाव में सारहीन और व्यर्थ हैं। गुरु गोरखनाथ ने कहा कि तुम्हारी घोर साधना सफल है तथा तुम सीधी अपने घर चली जाओ और तीन दिन के बाद पुनः यहां आना, तब तुम्हें पत्र प्राप्ति का वर मिलेगा।

रानी बड़ी प्रसन्न हुई और घर जाकर सारा वृतांत सुना दिया। जिसे सुनकर सभी प्रसन्न हो उठे। रानी बाच्छला की एक बहिन काछला थी जो भूत-प्रेतों की पूजा करती थी और गढ़ मालवा के राजा से ब्याही गई थी वह भी निःसंतान थी। उसकी एक और बहिन आच्छला थी, जो 'ख्वाजा पीर' की भक्ति करती थी। बाच्छला की सारी बातों को काछला ने सुना और तुरन्त गुरु गोरखनाथ से मिलने का कार्यक्रम बनाया। गुरु गोरखनाथ के वर सम्बन्धी वचन का ज्ञान होने पर भी उसने मन में ठान लिया कि जैसे भी हो, वह यह वर स्वयं प्राप्त करेगी। निश्चित दिन से एक दिन पहले ही भोली रानी बाच्छला के पूजा के वस्त्र धारण करके गुरु गोरखनाथ के डेरे जा पहुंची और वर मांगा। उसने स्वयं को गुरु की भक्तिन बाच्छला बताकर गुरु से पुत्र प्राप्ति के फल मांगे। समय से पहले आने पर योगी ने उसे फटकारा, पर वह बोली कि मैं अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकती और वर अभी दीजिए। अतः योगी ने उसे दो जौ के दाने दिए और कहा कि घर जाकर पानी के साथ खा लेना। इससे तुम्हारे दो पुत्र होंगे। काछला प्रसन्न होकर घर लौटी और उसने जौ के दाने (फलों) का सेवन किया और परिणाम-स्वरूप कालांतर में उसके यहां अर्जन और सुर्जन नाम के दो पुत्र हुए।

निश्चित दिन पर बाच्छला योगी की सेवा में पहुंची और वर देने की प्रार्थना की। गुरु गोरखनाथ को अपने साथ हुए छल का भान न था। उन्होंने बाच्छला को कहा कि वांछित फल पाकर भी फिर वर मांगने आकर तुम दोषपूर्ण व्यवहार कर रही हो। इस उत्तर से व्यथित होकर तथा सोचकर कि गुरु गोरख नाथ अपना वर पूरा नहीं करना

चाहते, वह वापिस चली गई और फिर बारह वर्ष तक घोर साधना में तल्लीन हो गई और इस प्रकार साधना में मग्न हो गई कि वह गुरु की भक्ति में मिट्टी बन गई। इस अवधि के अन्त में गोरखनाथ पुन: आए और कहा कि तुम्हें परितोष अवश्य मिलेगा। परन्तु रानी उपहार देखकर चिढ़ गई और उसे फेंक दिया क्योंकि योगी ने थोड़ी-सी राख मात्र उसकी हथेली पर रख दी थी।

उस विभूति के भूमि पर गिरते ही दो योगी नूर्य सिद्ध तथा गूर्य सिद्ध प्रकट हुए और उन्होंने गुरु की स्तुती आरम्भ कर दी। गुरु गोरख नाथ ने बाच्छला से पूछा कि तुमने विभूति को क्यों फेंका ? तुमने यह भारी अपराध किया है। परन्तु तप के महत्व को देखकर एक बार: पुन: देता हूं और घर जाकर इसे खा लेना। अधीरा बाच्छला ने तुरन्त उसे वहीं निगल लिया। तुरन्त ही उसका गर्भ भारी हो गया और उसे आभास हो गया कि मैं गर्भवती हो गई हूं। वह घर जाकर पहुंची तो उसके उभरे पेट को देखकर उसका पति देवीसिंह बोला कि तुम जोगियों या गुसाइयों की अवैध सन्तान ले आई हो। वह चुप रही। पति ने उसे अपने महल से निष्कासित कर दिया। वह बैलगाड़ी में बैठकर अपने पितृगृह को चल पड़ी। उसका पिता कृपाल अजमेर का राजा था। मार्ग में बैलों ने चलना बन्द कर दिया।

उदर से ध्वनि आई कि स्वधाम मुड़ चलो अन्यथा बारह वर्ष तक मेरा जन्म न हो पाएगा। जब बैलगाड़ी को मोड़ा, तो बैलत्वरित गति से गढ़ दुदनेरा की ओर चल पड़े और वहां पहुंच बाच्छला अपने पूर्व स्थान पर राजभवन में रहने लगी। उचित समय आने पर उसने पुत्र को जन्म दिया। जब बालक सात वर्ष का हुआ, तो राजा ने राजपद त्याग उसे राजा बना दिया। मुण्डलिख (गूग्गा) का जन्म माघ के प्रथम रविवार को प्रात काल में हुआ था। बाच्छला ने गूगड़ी नामक एक कन्या को भी जन्म दिया। बाच्छला का एक भाई थिथौर (पृथ्वीराज) चौहान भी था।

अगली मुख्य घटना थी मुण्डलिख की सुरिहल के साथ सगाई। यह एक ब्राह्मण के यत्नों से सम्पन्न हुई। सुरिहल बंगाल देश के राजा की पुत्री थी तथा इसकी मंगनी पहले वासुकि नाग के साथ हो चुकी थी। उचित समय पर मुण्डलिख अपनी सेना के साथ विवाहार्थ गौड़ बंगाल देश को चल पड़ा। उसके दल में 52 वीर थे, जिनमें कैलूवीर (उसका कोतवाल) और हनुमान वीर आदि नौ लाख सैना के साथ थे। जाकर वे एक नदी के तट पर ठहरे। उन्होंने नदी के दूसरे तट पर बड़ा धुआं उठता देखा जो इंगित करता था कि उधर भी कोई बड़ा सैन्य दल पड़ाव डाले है। यह देखकर मुण्डलिख ने कहा कि कौन वीर है ? जाकर इस जन-समूह के एकत्र होने का कारण व प्रकृति का पता लायेगा। कैलू ने यह कार्य अपने जिम्मे लिया। वह अपने घोड़े (अग्रदौर्य दूरी जानने वाले) पर सवार हुआ और उसे विशेष रूप से ताड़ित किया और घोड़ा एक छलांग में उसे दूसरे तट पर ले पहुंचा। कैलू घोड़े से उतर कर तथा उसे छिपाकर गन्धारी ब्राह्मण के रूप में उस शिविर में जा पहुंचा। मुख्याधिकारी से उसकी भेंट हुई और उससे ज्ञात हुआ कि यह वासुकि नाग का सैन्यदल है और मुण्डलिख से सगाई की चर्चा सुनकर वह

पहले हुई सगाई के आधार पर उस कन्या पर अपना दावा पेश करने आया है।

कलिहर नामक उस अधिकारी ने बताया कि वह मुण्डलिख की सेना को नष्ट कर देगा और विशेषतः उसके कोतवाल कैलूवीर को तो निश्चय ही समाप्त कर देगा। ऐसा कहने पर कैलू क्रोधित हो उठा। परन्तु उनकी सहायता करने का दम कर उसने कलिहर को परामर्श दिया कि वह अपनी सेना को ऊंची-ऊंची घास में छिपा दे और जब मुण्डलिख की सेना आए तो छुपे-छुपे ही उस पर आक्रमण कर दे। उन्होंने ऐसा ही किया कैलू ने छदमवेश उतार फेंका और अपने घोड़े पर सवार हो गया। घोड़ा दूलतियां झाड़ने लगा और उससे उत्पन्न आग से घास जल उठी। इससे सारी नाग-सेना जल कर राख हो गई। फिर घोड़ा उसे एक ही छलांग में नदी के दूसरे तट पर अपने शिविर में ले पहुंचा। वहां उसने सारी कहानी गूग्गा को सुना दी। तब बारात बंगाल देश में पहुंची और गौड़ बंगाल पहुंचने पर मुण्डलिख का सामना सुरिहल की भेजी जादूगरनी से हुआ। जादू डालने के लिए जादूगरनी ने सुन्दर पुष्पहार मुण्डलिख के गले में डाल दिया। हनुमान वीर वास्तविक भेद को भांप गया। उसने एक चीत्कार किया और हार टूट कर गले से गिर गया। तीन बार ऐसे ही हुआ।

तीसरी बारी में तो जादूगरनी का अधोवस्त्र भी नीचे गिर गया और वह सबके सामने नंगी हो गई। इस प्रकार लज्जित किए जाने की शिकायत उसने मुण्डलिख से की। मुण्डलिख ने हनुमान वीर को बुरी तरह से डांटा और उसे भला-बुरा कहा। तदुपरांत हनुमान वीर ने दुःखी होकर कहा कि मैं इसी क्षण गढ़ दुनेर लौट रहा हूं। परन्तु मेरा जाना आपके लिए हानिकारक होगा। आपको बारह वर्ष गौड़ बंगाल में ही रहना पड़ेगा।

मुण्डलिख ने राज प्रसाद में प्रवेश किया, उसका विवाह सम्पन्न हो गया। उसकी सेना ने सिपाहियों पर जादू कर दिया। मुण्डलिख अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रेम पाश में जकड़ा गया। इधर मुण्डलिख और सेना मोहपाश में बंधी थी और उधर गढ़ ददनेर पर भारी संकट आ पड़ा। उसके सौतेले भाई जो वास्तव में बाच्छला को दिए गए वर से ही उत्पन्न हुए थे, अपने को आच्छला का ही वैध पुत्र मानते थे और राज्य-भाग का आधा हिस्सा भी लेने के लिए षडयन्त्र रच रहे थे। कुछ कथांतरों में कहा गया है कि काछला की मृत्यु के पश्चात बाच्छला ने उन्हें अपनी गोद में ले लिया था और धर्मपुत्र भी बना लिया था। इसी समय गढ़ ददनेर में एक अदभुत "पंच कल्यानी" बछेरे का जन्म हुआ। वे दोनों सौतेले भाई इसे भी प्राप्त करना चाहते थे। मुण्डलिख की अनुपस्थिति का अनुचित लाभ उठा उन्होंने मुहम्मद गजनवी की सहायता से गढ़ ददनेर पर आक्रमण कर दिया।

उनके लिए मुण्डलिख सेना व युद्ध विशारदों की अनुपस्थिति में विजय प्राप्त करना असंभव न था। लूटमार के बाद उन्होंने नगर पर अपना अधिकार जमा लिया। परन्तु जिस दुर्ग में बाच्छला और उसकी पुत्री गूगड़ी थी, उसको अपने कब्जे में अभी लेना शेष था। दुर्ग के परकोटे से गूगड़ी ने सभी कुछ देखा। क्रोधदग्ध और विक्षिप्त सी

वह महल में इधर-उधर घूमती रही। अपनी दुरावस्था पर रोती हुई मुण्डलिख को याद करने लगी, तभी मुहम्मद गजनवी का पत्र आया कि यदि गूगड़ी मुसलमान बनकर उसके हरम (राणीवास) में आ जाए और दुर्गवासी आत्मसमर्पण कर दें तो उनके तन-धन आदि की सुरक्षा का वचन दिया जाता है अन्यथा आक्रमण कर सबको काट डाला जायेगा। घोर निराशा की स्थिति और हतोत्साही होकर गूगड़ी कमरे में घूम रही थी। अन्त में वह मुण्डलिख के कक्ष में जा पहुंची। यह वैसा ही सजा थी, जैसा इसे वह छोड़ गया था। उसकी तलवार और पगड़ी उसके पलंग पर रखी थी। जब उसने मुण्डलिख को स्मरण किया, तो म्यान से निकल कर तलवार उसके हाथ में आ गई। उसने मुण्ड-लिख की पगड़ी धारण की। चण्डी का रूप धारण कर नितान्त अकेली ही शत्रुओं की सेना पर टूट पड़ी और उन्हें मार-मार कर वहां से खदेड़ दिया।

वापिस दुर्ग में आकर गूगड़ी को अपने भाई के मित्र राजा अजयपाल का ध्यान आया। उसने उससे प्रार्थना की कि वह भाई गूग्गा को खोज कर लाए। अजयपाल कुछ समय से तप आदि साधना में तल्लीन रहता था। उसने एक रात स्वप्न भी देखा था कि मुण्डलिख बिना सिर ही युद्ध कर रहा है। गूगड़ी के आग्रह करने पर वह मुण्डलिख की खोज में निकल पड़ा। पांच वीर भी उसके साथ चले, जिनमें नारसिंह वीर तथा काली वीर प्रमुख थे। वे गौड़ (बंगाल) देश में पहुंचे और इस सम्भावना से कि शायद मुण्ड-लिख सुन ले, गढ़ ददनेर के गीत गाते जंगमों की भांति वे द्वार-द्वार घूमने लगे। मुण्डलिख अभी तक जादू के प्रभाव में था। एक दिन महल में गीत सुनाया गया। इसे सुनकर वह उत्तेजित हो उठा। सुरिहल ने उसे शान्त करने का प्रयास किया किन्तु अब उसे जादू का प्रभाव खत्म हो चुका था। गढ़ ददनेर की दुरावस्था सुन कर उसने अपने देश लौटने का निर्णय लिया। सभी वीर और सैनिक सचेत हो गए। मुण्डलिख सुरिहल व अपनी सेना के साथ गढ़ ददनेर आ गया और वहां आकर पुनः राणा का पद धारण किया।

मुण्डलिख ने मुसलमानों के विरुद्ध कई (लगभग तेरह) युद्ध किए और काबुल तक उसकी तूती बोलने लगी। अन्तिम युद्ध में एक चक्र ने उसका सिर धड़ से अलग कर दिया, परन्तु वह वहां पर यथावत मुसलमानों की सेना के विरुद्ध लड़ता रहा और एक रेखा भर उभरी दीखने लगी। इसी से उसका नाम "मुण्डलिख" पड़ा। इसी स्थिति में नीले घोड़े पर सवार मुण्डलिख लड़ता रहा। उसके मित्र अजयपाल को अपना स्वप्न याद आ गया और उसके पीछे लगा रहा कि देखे आगे क्या होता है? यदि अढ़ाई घड़ी सिर यथावत रहता तो मुण्डलिख बच जाता, परन्तु तभी चार चीलें आकाश में दिखाई दीं और बोलीं देखो-देखो कैसा विस्मयकारी युद्ध है। मुण्डलिख बिना सिर के ही लड़ रहा है। यह सुन कर मुण्डलिख ने पगड़ी पर हाथ रख कर देखा और मुड़कर अजयपाल की ओर देखा। इससे उसका सन्तुलन बिगड़ गया और सिर भूमि पर गिर गया। योद्धा मुण्डलिख भी वहीं गिर कर मर गया। भाद्रपद की कृष्णपक्षीय नवमी के दिन मुण्डलिख का देहावसान हुआ था। उसकी समाधि पर इसी दिन उसका श्राद्ध होता है और यह दिन "गूग्गा नवमी" के दिन से प्रसिद्ध है।

आगे की कथा में मुण्डलिख की पत्नी सुरिहल ने यह मान कर कि वह मरा नहीं है। संध्या का श्रृंगार त्यागने से इन्कार कर दिया। उसका दावा था कि वह प्रति रात्री उससे मिलने आता है। एक रात्रि बहिन गूगड़ी को अनुमति दी गई कि वह उसके कमरे में छिप जाए जहां सुरिहल पति की प्रतीक्षा कर रही थी। अर्धरात्रि में उसने घोड़े के टापों की ध्वनि सुनी और धीरे से खिसक कर घोड़े के पास गई। इसी अन्तराल में मुण्ड-लिख सुरिहल के कमरे में चला गया था। गूगड़ी घोड़े की ग्रीवा से चिपक गई और मुण्डलिख के कुछ दूर तक चले आने तक भी साथ चिपकी रही। अन्त में उसे गूगड़ी की उपस्थिति का आभास हुआ तो बोला कि क्योंकि मुझे देख लिया है, अतः अब मैं कभी नहीं आऊंगा।

उपर्युक्त कथा में गूग्गा और मुण्डलिख अभिन्न है और स्पष्टतः ही न तो वह कभी मुसलमान बना और न उनसे युद्ध को छोड़ कर कोई वास्ता ही रहा। संभवतः गूग्गा कथा का यही शुद्ध और प्रामाणिक रूप है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो वह पृथ्वीराज चौहान, मुहम्मद गौरी और अजयपाल के समकालीन था और यह भी सहज स्वीकार्य है कि गूग्गा उनका सम्बन्धी होने के कारण उनके पक्ष में मुहम्मद गौरी से तेरह बार लड़ा था। जयचन्द नरेश कनौज तथा काठियावाड़ के गिरनार के पांच चूडासम राजा भी मुण्डलिख कहाते थे। अतः कल्पना की जा सकती है कि मुण्डलिख वीरों की कोई उपाधि होगी।

श्रीमद्‌भागवत में गूग्गा का उल्लेख

श्रीमद्‌भागवत में गूग्गा का संक्षिप्त परिचय केवल जन्म सम्बन्धी मिलता है। तदनुसार ऋषि कश्प की दो पत्नियां कन्द्रू तथा विनता थीं। समयान्तर से कन्द्रू ने एक सर्प को और विनता ने गरुड़ को जन्म दिया। गरुण तो भगवान विष्णु का वाहन बना था तथा सर्प इच्छानुसार रूप धारण कर लेता है। वह भूमि पर फिरता था, अतः गो (पृथ्वी) गः (जाने वाला) "गोगा" कहा था। गरुड़ "ग" (गुरूत्व) "रू" (अन्धकार) ड़ (उड़ना) के अनुसार ऐसा वाहन बना जो गुरुत्वाकर्षण क्षेत्र तथा उससे भी ऊपर के प्रकाशहीन क्षेत्र से भी ऊपर उड़ सकता है। जो भी हो, हिन्दुओं के लिए गूग्गा और गरुड़ दोनों समान रूप से पूजनीय हुए।

जैन ग्रन्थों में गूग्गा का प्रसंग

जैन ग्रन्थों में भी गूग्गा का प्रसंग आता है। प्रायः 2600 वर्ष पूर्व नन्दी ब्राह्मण के राज्यकाल में कनखल के समीप चण्डकोशीम नामक भीषण एवम् भीमकाय विषधर रहता था। वह जिस वस्तु पर दृष्टिपात करता, वह भस्मीभूत हो जाती थी कोई व्यक्ति उसके निवास स्थल के पास से जीवित नहीं जा सकता था। जब 24 वें तीर्थंकर महावीर स्वामी भिक्षु बन कर भ्रमण करते उधर आए, तो प्रचुर वर्जन के पश्चात् भी चण्डकोशीय के शिविर पर गए। सर्प ने उन्हें तीन बार काटा, परन्तु उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

भगवान महावीर ने सर्प को कहा कि अपने मूर्खतापूर्ण आचरण से तुम भगवान के सामने कैसे मुंह दिखाओगे ? इस पर उसे पश्चाताप हुआ । उसने अपने सिर को बिल में डाल शेष शरीर को बाहर रहने दिया । मार्ग यात्रियों के लिए निरापद हो गया । पथिक और ग्वालिनें उसके शरीर पर घी, तिल, चावल और कच्ची लस्सी आदि चढ़ाने लगीं । इस प्रकार वह सर्पाधिपति बन गया । चींटियां उमड़ पड़ीं और उसके शरीर को खाने लगीं । परन्तु वह तो अब पूर्ण अहिंसावलम्बी बन गया था और करवट तक न लेता था कि कहीं कोई चींटी उसके शरीर से दब कर मर ना जाए । अब तो वह गूग्गा कहाने लगा (गूग्गा) "गू", (गो) भूमि गः चलना या जाना क्योंकि वह आधा भूमि में चला गया था ।

हिमाचली जनमानस में नारसिंह

हिमाचल प्रदेश भारत मां का शिरोमुकुट है। इसे देव भूमि का गौरव प्राप्त है। इस प्रदेश का हर पत्थर ठाकुर है। इसी आस्था और जनविश्वास पर यहां शिव मंदिरों की बहुलता है तथा विष्णु मंदिर ठाकुर तथा विष्णु के अनेक अवतारों के रूप में मिलते हैं। भारत के अन्य प्रदेशों की भांति यहां भी विविध देवताओं की मूर्तियां मंदिरों में स्थापित हैं। इन मूर्तियों पर हिमाचली लोगों का देवविश्वास इतना बद्धमूल है कि इनकी वैयक्तिक, सामाजिक समस्याएं और कष्ट इनके कोप और प्रसाद पर आश्रित होते हैं। इसीलिए साधारण सिर दर्द हो या महामारी, बाढ़ हो या अनावृष्टि, चोरी हो या डाकाजनी, लड़ाई-झगड़ा हो या सुलह-सफाई, सुख-सुविधा हो या आपत्ति सबका मूल कारण और निवारण ये मूर्तियां और देवता हैं। इन देवताओं के प्रति अटूट विश्वास के पीछे सहस्त्रों वर्ष पुरानी परम्पराएं और लोक-विश्वास हैं।

इस प्रदेश में जहां शिव ने शैव-धर्म को जन्म दिया वहां विष्णु ने वैष्णव-धर्म का सूत्रपात किया। यहां विष्णु और शिव के विविध उपासक मिलते हैं। वैष्णव-धर्म के मूल सिद्धांत, आचार-विचार यहां के वैष्णव मतावलम्बियों में भी समान रूप से देखे जाते हैं। ये लोग सुरा, लहसुन, प्याज आदि मादक एवं तमोवृत्तिबर्द्धक पदार्थों का सेवन नहीं करते। मस्तक पर तिलक, गले में तुलसी की माला तथा यज्ञोपवीत धारण करते हैं। पूजा-अर्चना के लिए विष्णु मंदिरों (ठाकुर द्वारों) में जाते हैं।

नृसिंह अवतार

शैव और शाक्त-धर्म की तान्त्रिक आस्था और पूजा पद्धति ने विष्णु के दस अवतारों में नृसिंह अवतार को हिमाचल में नारसिंह के रूप में अधिक प्रभावित किया है। यही कारण है कि साधारण अनपढ़ व्यक्ति भी नृसिंह को विष्णु की विश्वव्यापकता से दूर तांत्रिक पद्धति से पूजता है। कालान्तर में इसी नृसिंह ने नारसिंह के रूप में हिमाचल में इतनी व्यापकता प्राप्त कर ली कि इसकी मूर्तियां मंदिरों में प्रतिष्ठापित की जाने लगीं।

विष्णु-रूप व प्रतीक

पुराण-साहित्य में विष्णु के अनेक अवतारों में दस अवतार प्रमुख माने गए हैं--

मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, बामन, परशुराम, दाशरथि राम, कृष्ण, बुद्ध और भावी अवतार कल्कि। विष्णु के इन दस अवतारों में से नृसिंह, परशु राम, राम, कृष्ण और बुद्ध के मंदिर यहां पाए जाते हैं। विष्णु की पूजा में इन अवतारों की पूजा भी शामिल है। ईश्वर की सर्जन, पालन और संहार इन तीन शक्तियों में से विष्णु को पालक शक्ति का प्रतीक माना जाता है। इसीलिए विष्णु की चार भुजाएं कल्पित की गई हैं। वे इन भुजाओं में शंख, चक्र, गदा और कमल धारण करते हैं। इस प्रदेश में विष्णु के शंख की अपनी अलग विशेषता है। यह जहां पूजा में प्रयुक्त होता है, वहां मांगलिक अवसर पर इसका बजाया जाना अति पावन समझा जाता है। किसी व्यक्ति की मृत्यु के अवसर पर भी सीधी फूंक द्वारा शंख का बजना मृत्यु का सूचक होता है। इसके प्रतिज नआस्था है कि मरण के अवसर पर अगर इस ढंग से शंख बजाया जाए तो यमदूत भयभीत होकर लौट जाते हैं और मृतक के सूक्ष्म शरीर को विष्णु लोक में ले जाने के लिए विष्णु दूत आते हैं। यह भी लोक विश्वास है कि जहां तक शंख की ध्वनि पहुंचती है, वहां तक भूत प्रेतादि बाधाएं प्रभावहीन होकर पास नहीं फटकतीं। इसीलिए हर मंदिर गांव और घर में शंख का होना और बजाया जाना परमावश्यक समझा जाता है। गदा और चक्र भक्तों की दृष्टों के परित्राण के चिह्न माने जाते हैं। कमल कमला (लक्ष्मी) का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त हिमाचल के मंदिरों में विष्णु के गले में वैजयंती माला भी धारण की हुई होती है। इस प्रदेश में जहां विष्णु के मंदिर है। उन्हें प्राय: इसी रूप में दर्शाया गया है।

भगवान विष्णु ने आसुरीवृत्ति के मनुष्य से दैवी—विचारधारा के लोगों की रक्षा हेतु ही यह विविध अवतार धारण किए हैं। अत: विष्णु के समान ही इन अवतारों में भी लोगों की अटूट आस्था है। हिमाचल में इन दस अवतारों में भी श्रीराम, श्रीकृष्ण और नृसिंह सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। इनकी पूजा के स्थलों को 'ठाकुर द्वारा' नाम से अभिहित किया जाता है। इसके अतिरिक्त परशुराम अवतार का स्थान भी यहां महत्व-पूर्ण है। कुल्लू के निरमण्ड में परशुराम की मूर्ति प्राय: मंदिर में बन्द रहती है। भूण्डा-यज्ञ के समय ही दर्शन किए जा सकते हैं, जब मंदिर खुलता है। सिरमौर में ददाहु के निकट परशुताल इनकी पूजा को सदा याद रखे हुए है, पास ही परशुराम की माता रेणुका का सरोवर है।

विष्णु के अवतारों में इस प्रदेश में नृसिंह का स्थान अन्यतम है। आज के हिमाचल के जनमानस में नृसिंह और नारसिंह में कोई भिन्नता नहीं रही है। मूलत: नृसिंह विष्णु का वह पूर्वचर्चित रूप है जो इन्होंने चौथे अवतार में धारण किया था जिनके शरीर का आधा भाग मनुष्य का तथा आधा सिंह का था। हिमाचल के सिरमौर जनपद की जन आस्था के अनुसार नृसिंह की माता का नाम चन्द्रावती और पिता ब्रह्म ऋषि था। इनके गुरु का नाम काशी ऋषि और जन्म स्थान मुल्तानपुरी माना जाता है। विष्णु भगवान का यह लौकिक रूप अपने प्रिय भक्त प्रह्लाद की दैत्य हिरण्यकश्यपु के अत्याचारों से रक्षा के लिए धारण किया गया था। कालान्तर में यही नृसिंह पर्वतीय

जनमानस में नारसिंह के रूप में अपनी मूल अवधारणा में अनेक परिवर्तन तथा परिवर्धनों के साथ लोकप्रिय हुआ।

हिमाचल के कुछ क्षेत्रों में तो पुरुष तथा स्त्रियां सभी समान रूप से नारसिंह की पूजा करते हैं। कांगड़ा जनपद में इसके लिए 'साया' नाम प्रचलित है। संभवत जिसका अर्थ महिला विशेष का संरक्षक और आश्रयदाता है। जो महिला इसकी पूजा करती रही हो उसकी पुत्री को भी इसकी पूजा करनी पड़ती है। यह देवता मातृ कुल परंपरा से अंगनाओं पर अनुरक्त होता है। विवाह के अवसर पर वरपक्ष की ओर से कन्या को 'बरी' के वस्त्रों के साथ 'नारसिंह' की पूजा हेतु एक विशेष वस्त्र, नारियल और चांदी की प्रतिमा दी जाती है। नारसिंह के संबंध में यह लोक विश्वास है कि यह देवता सन्तान, सुख प्रदाता, वैभव देने वाला तथा विविध क्लेश निवारक है। इसके आराधक ताम्बे की थाली में नारियल रखकर रविवार या मंगलवार को इसे स्वच्छ व ताजे पानी से धोकर पूजते हैं। इसे चन्दन का टीका लगाया जाता है तथा अक्षत, पुष्प व नैवेद्य अर्पित करते हैं।

स्त्रियों पर अनुरक्त देव

जनश्रुति के अनुसार नारसिंह श्वेत दाढ़ी धारण किए हुए होता है। इस प्रदेश में बांझ स्त्रियां पुत्र-प्राप्ति के लिए नारसिंह की पूजा करती है। इस धारणा के पीछे संभवत: यह कारण हो सकता है कि नृसिंह भगवान ने अत्याचारी हिरण्यकश्यपु का वध कर उसके पुत्र प्रह्लाद की रक्षा की थी। नारसिंह के आराधक गले में चांदी का ताबीज अथवा जन्त्र पहनते हैं। अनामिका में मुन्दरी पहनने की परंपरा है, जिस पर नारसिंह चित्रित होता है। नारसिंह की यह एक उल्लेखनीय विशेषता है कि जिन स्त्रियों पर यह रीझता है उन्हें यह युवक ब्राह्मण के वेष में तथा सफेद पहरावे में दिखाई देता है। जिस स्त्री के साथ इसकी अनुरक्ति होती है उसे यह बहुत ही व्यथित एवं परेशान करता है। उसके साथ सहवास एवं सम्भोग भी करता है। इसलिए इसे स्त्रीगामी व्यभिचारी आक्रामक देव भी माना गया है। विक्षिप्त स्त्री के उपचार के लिए यान्त्रिक (चेला) वादित्र (वायत्री) द्वारा आवेशोन्मत्त स्त्री का इलाज किया जाता है।

नारसिंह का निवास स्थान अधिकतर पीपल और सेंबल के वृक्ष पर माना जाता है। इसलिए इस प्रदेश के लोग विशेष कर कृषक नई फसल घर आने पर अन्न, गुड़ आदि मिष्ठान्न लेकर प्रसाद (हलवा) के रूप में पीपल वृक्ष पर चढ़ाते हैं और पूजा करते हैं।

शक्तिशाली दैत्य

कुल्लू जनपद में नारसिंह को एक शक्तिशाली दैत्य माना जाता है। यह प्राय: परित्यक्त घरों, मालती, चमेली, जूही के फूलों में, कूपों, नदी-नालों और मंदिरों में रहता है। बच्चों और सुन्दर स्त्रियों को रात्रि और विशेषकर दोपहर के समय अपनी ओर

आकर्षित कर उन पर आसक्त हो जाता है। इसके बचाव के लिए नन्हें-मुन्हों के मस्तक पर काला टीका लगा दिया जाता है। इसे प्रसन्न करने के लिए लोग बकरे की बलि भी देते हैं। मिठ्ठी रोटी (रोट) फूलों का बना हुआ हार तथा कच्चे सूत का धागा इसकी सेवा में भेंट किया जाता है। ब्राह्मण को सफेद कपड़े भेंट स्वरूप दिए जाते हैं। इसे 'बाबा सिण्डू' (पहाड़िया) के नाम से भी जाना जाता है। चम्बा जनपद में इसकी "गूंगे के वजीर" के रूप में पूजा की जाती है। चम्बा में एक विष्णु-मंदिर अपनी अलग ही विशिष्टता लिए हुए है। इस मंदिर में स्थापित विष्णु की ताम्र मूर्ति के तीन सिर हैं जो इनके तीन अवतारों बराह, नृसिंह और राम के प्रतीक माने जाते हैं। इस मूर्ति में नृसिंह को राम और वराह के साथ जोड़ा गया है। इसका साधारण पहरावा सफेद धोती होता है और उस समय इसके एक हाथ में छोटा-सा डण्डा तथा दूसरे हाथ में छोटा सा नारियल का हुक्का होता है।

जीर्ण-शीर्ण मंदिर

हिमाचल प्रदेश के अनेक स्थानों पर नारसिंह के मंदिर हैं जो अब जीर्ण-शीर्ण स्थिति में हैं। इनमें भरमौर (चम्बा) का मंदिर विशिष्ट उदाहरण है जहां नारसिंह की एक पीतल की सुन्दर प्रतिमा स्थापित है। एक प्राचीन ताम्र-पत्र पर लिखे आलेख के अनुसार राजा साहिल वर्मा के पुत्र राजा भोगकर की रानी त्रिभुवन रेखा ने इस मंदिर और मूर्ति की स्थापना की थी जिसका समय लगभग दसवीं या ग्यारहवीं शताब्दी है। भूतपूर्व रियासत सुकेत में भी नारसिंह का मंदिर है। राजा की ओर से इसे 145 घुमाऊं जमीन जागीर में दी गई थी। पुराने समय में नारसिंह की मूल मूर्ति को देखने की अनुमति नहीं थी। कहते हैं जो इसे देखता था वह या तो अन्धा हो जाता था या मर जाता था। पुजारी इसकी पूजा के समय अपनी आंखें बंद रखता था ताकि उसकी दृष्टि मूर्ति पर न पड़े।

कांगड़ा जनपद में भी नारसिंह के अनेक मंदिर है शाहापुरी नारसिंह के मंदिर में जन्माष्टमी के दिन विशेष मेले का आयोजन किया जाता है। तीर्थों में नारसिंह के मंदिर का निर्माण आज से लगभग 250 वर्ष पूर्व उमन्द चंद ने करवाया था। इस मंदिर में फलादि भेंट के रूप में चढ़ाए जाते हैं। रेहलु में भी उसका भव्य मंदिर है। एक ब्राह्मण ने लगभग दो सौ वर्ष पहले यहां एक नारसिंह की मूर्ति स्थापित की थी। मंदिर में लक्ष्मी का चित्र भी है। यहां प्रातः रोटी या उबाले हुए चावलों का भोग लगाया जाता है। रात्रि के समय जलसिक्त चनों का भोग लगता है। झनियारा में इसका एक मंदिर है। वहां पर भी नारसिंह की सुन्दर मूर्ति थी जिसे आज से लगभग 120 वर्ष पहले लोगों ने नदी में फेंक दिया था और उसके स्थान पर लक्ष्मी की एक खुदी हुई मूर्ति स्थापित कर दी गई थी। फतेहपुर में भी एक महन्त ने दक्षिण भारत से एक पिण्डी लाकर यहां पर नारसिंह के रूप में प्रतिष्ठापित की थी।

हिमाचल में महासू-आस्था

वैदिक साहित्य में 'रुद्र' देवता का वर्णन भयानक मनुष्यों तथा पशुओं का संहर्ता के रूप में उपलब्ध है। वे राक्षस-घाती भी हैं। ऋग्वेद में इन्हें कृपालु, कल्याणमय तथा श्रेष्ठ वैद्य भी कहा गया है, जो औषधियों द्वारा सब प्रकार के रोगों का उपचार करते हैं। वे मंगलमय (शिव) भी हैं, जो स्तोता को धन-धान्य से सम्पन्न कर देते हैं। वेदों में 'शिव' विशेषण का प्रयोग 'रुद्र' से सम्बद्ध नहीं है। परवर्ती पौराणिक साहित्य में शिव (मंगलकारी) तथा रुद्र (भयानक) ये दोनों शब्द अन्योन्य पर्याय बन गए हैं। इस महाशक्ति के आसुतोष तथा आशुरोष दोनों रूपों का प्रयोग तन्त्र-साहित्य व साधना में प्रचुर मात्रा में मिलता है। ये महाशिव प्रसन्न होकर श्रद्धालु को ऐहिक व पारलौकिक बन्धन से मुक्ति तथा रुष्ट होकर बन्धन युक्त करने की क्षमता रखते हैं। इसी लोक विश्वास तथा आस्था पर आधारित 'महाशिव' का विकृत रूप 'महासू देव' प्रतीत होता है। हिमाचल प्रदेश में महाशिव-महासू-मास्सू के प्राकट्य के सम्बन्ध में जो लोक कथानक जुड़े हैं, उनके अनुसार यह ग्राम-देवता के रूप में प्रतिष्ठित है।

सिरमौर जनपद में महासू-आस्था—महासू देवता का मुख्य स्थान 'रेणुका' तहसील के ग्राम 'सिओं' में है। मन्दिर एक छोटी-सी पहाड़ी पर स्थित है और नीचे गिरी नदी बहती है। मन्दिर ग्राम के समीप ही है और पार्वत्य क्षेत्र के दो मंजिला घरों जैसा दीख पड़ता है। निचली मंजिल का द्वार उत्तर की ओर है। उपरी मंजिल द्वारहीन है और निचली मंजिल में बनी सीढ़ियों से चढ़कर ही वहां जाते हैं। छत में बने प्रकाश छिद्रों द्वारा ही इसमें प्रकाश रहता है। देव-प्रतिमाएं एक काष्ठ फलक पर रखी हैं जिसे 'गुम्बद' कहा जाता है। एक बड़ा और अनेक छोटे पीतल के मानव वक्ष तक के विग्रह हैं। बड़ी मूर्ति मध्य में है और छोटी पार्श्वों में है। बाईं ओर की मूर्ति सिरमौर के देवता 'सिरमौरी' की है। यह देवता स्वतन्त्र न हो किसी बड़े देवता का सहचर ही रहता है। उसका अपना निजी कोई मन्दिर नहीं है। यहां 'शिमलासन' देवी की एक मूर्ति है। बड़ी मूर्ति की दाईं ओर की प्रतिमाएं ही हरिद्वार या अन्यत्र जाती हैं, शेष स्थिर रहती हैं। बाहर जाने के लिए दाईं ओर की मूर्तियों को साफ-सुथरा रखा जाता है परन्तु बाईं ओर की मूर्ति मलिन ही पड़ी रहती है। 'शिमलासन' तथा सिरमौरी को छोड़कर अन्य सभी मूर्तियां महासू देवता की हैं। मध्य की बड़ी मूर्ति प्रधान है और शेष सब समान

महत्त्व की हैं। दूध तथा बकरे भेंट किए जाते हैं और मन्दिर केवल रविवार, बुधवार तथा संक्रान्ति को ही खुलता है। पूजा पूर्वाह्न में ग्यारह बजे तथा सायंकाल में होती है और आस्थावान् लोग जिनके घर में भैंसें होती हैं, मूर्ति पर दूध चढ़ाते हैं। यदि 'देवा' (मुख्य पुजारी) के घर में जन्म या मृत्यु (सूतक, पातक) हुए हों, तो मन्दिर बीस दिन तक बन्द रहता है। न कोई यात्री और न कोई 'देवा' मन्दिर में प्रवेश कर सकता है। पूजा के समय एक विशेष सावधानी का ध्यान रखना पड़ता है। मूर्ति पूजा से दो दिन पूर्व ही 'देवा' को स्त्री संसर्ग त्यागना होता है। संभवतः इसीलिए सप्ताह में दो बार की पूजा का विधान है। पुर्वाह्न की पूजा को 'धूप देना' तथा सायंकाल की पूजा को 'संध्या' कहते हैं। जनश्रुति है कि एक ब्रह्म मुहूर्त में महासू ने एक 'देवा' को दर्शन दिए और आज्ञा दी कि गिरि नदी में से मुझे लाकर ग्राम में मेरा मन्दिर बनाओ।" दूसरे दिन प्रातः ही देवा "गिरि नदी पर गया और उसे नदी के किनारे एक बड़ी भव्य मूर्ति मिली। इसे स्थानीय भाषा में 'जलासन' भी कहते हैं। सिरमौर जनपद में महासू पर लोगों की इतनी आस्था नहीं है जितनी 'श्रीगुल' और 'परशुराम' पर है।

महासू का जागरा—यह रेणुका क्षेत्र का विशेष उत्सव है तथा भाद्रपद की कृष्णपक्षीय चतुर्थी तथा पंचमी के मध्य की रात्रि को आयोजित किया जाता है। तृतीया को नदी तट पर देवता की ध्वजा लहराई जाती है। चतुर्थी को भक्तजन आते हैं जिन्हें मन्दिर की ओर से भोजन दिया जाता है। चतुर्थी को ही प्रायः तीन बजे अपराह्न में देवता को मन्दिर से बाहर लाते हैं। यदि देवता प्रसन्न हो तो उसे आसानी से उठाया जा सकता है। परन्तु रुष्टावस्था में पांच-छह व्यक्ति भी उसे नहीं उठा पाते। यदि दूसरी स्थिति आ पड़े तो लोग वाद्य यन्त्र बजाते हैं, प्रार्थना करते हैं तथा कुछ लोग नाचते हैं। वे विभिन्न कौतुक दिखाते हैं, कोई आग से खेलता है तो अन्य अपने सिर पर मिट्टी डालते रहते हैं। ये लोग जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर भी देते हैं। इन्हीं में कोई एक देवता के रुष्ट होने का कारण भी बता देता है, तब भक्त और पुजारी वचन देते हैं, देवता प्रसन्न होकर स्वल्प भार हो जाता है और तब उसे मन्दिर से बाहर लाया जाता है। अब उसकी शोभा यात्रा सजती है। सबसे आगे शोभा यात्रा में देवता का ध्वज होता है, पीछे देवता व उसका भक्त। देवता पर नदी का जल छिड़ककर उसे स्नान करवाया जाता है और फिर उसके भक्तजन देवता को मन्दिर में ले आते हैं। मन्दिर में रात भर नृत्य-गान चलता रहता है। मन्दिर के प्रांगण में ही जनसमुदाय को मदिरा तथा भोज दिया जाता है।

शिमला जनपद में महासू-आस्था—महासू शिमला जनपद का सर्वाधिक मान्य और लोकप्रिय लोक देवता है। इस क्षेत्र में उसका प्रमुख मन्दिर 'अनेल' स्थान पर है। महासू देवता की पूजा का इतिहास इस प्रकार से है—कहते हैं कि एक बार ऐसा भी समय आया था कि धरती के वृहत्तर भाग पर दानवों का आधिपत्य हो गया था। उस समय टौंस एवं 'पब्बर' नदियों के मध्यवर्तीय क्षेत्र में एक दुष्टमना जाति रहती थी और किरमत दानू' इसका मुखिया था। यह 'दानू' मानव लहू में लोट-पोट होकर

आनन्दित होता था। अपने अधिकार क्षेत्र के ग्रामो में से वह साल में दो बार नर-बलि लेता था। इसी क्षेत्र के 'मदरत' ग्राम में दो सद्‌वृत्ति ब्राह्मण रहते थे जिन्हें भगवान् ने सात पुत्र दिए थे। इनमें से छह ब्राह्मण-पुत्र दानव की वेदी पर बलि दिए जा चुके थे और सातवें पर अब उसकी ललचाई नजर पड़ रही थी। माता-पिता भया-क्रान्त अर्धवार्षिक बलि अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे क्योंकि यही एक मात्र उनका पुत्र रह गया था जो मरणोपरान्त उनकी कपाल क्रिया करता और उनकी आत्मा को मुक्ति दिलाता। परन्तु बलि समय से कई मास पूर्व ही ब्राह्मण की पत्नी दैवी प्रभाव से उत्तेजित हो उठी और कांपने तथा चीखने लगी—"महासू! महासू!! काश्मीर का महासू ही हमारे पुत्र की रक्षा कर सकता है।" उसका पति ऊना भाट महासू नाम से अनभिज्ञ होने के कारण उसके कथन को न समझ पाया और उसने पत्नी को विस्तार से समझाने के लिए कहा। उसकी पत्नी ने स्पष्ट किया कि काश्मीर में एक देवता महासू का आधिपत्य है यदि तुम उसके मन्दिर में जाकर याचना करो तो वह हमारे पुत्र को बचा सकता है। ऊना भाट वृद्ध था और काश्मीर था अति दूरस्थ। अतः वह एक दुखभरी मुस्कान से बोला—"मैं जीर्ण-शीर्ण हूं, यदि मेरे पुत्र की रक्षा इसी प्रकार हो सकती हो तो समझ लो कि उसकी रक्षा हो ही नहीं सकती।" परन्तु स्त्री का कांपना-चीखना बढ़ता गया तथा वह उसी प्रकार उत्तेजित रही। असहाय ब्राह्मण पत्नी की सान्त्वना के लिए यात्रा पर चल पड़ा। उसे किसी भी प्रकार के त्राण या सहायता की लेशमात्र भी आशा न थी। एक पड़ोसी ने उसे कहा कि वह देवी 'हाटकोटी' के मन्दिर में जाए। वहां एक ब्राह्मण रहता है जिसने काश्मीर के देव स्थानों की यात्रा की है। ऊना भाट वहां पहुंचा और ब्राह्मण से महासू के मन्दिर जाने का मार्ग पूछा। पंडित नाग उन्मुक्त हंसी के साथ बोला—"तुम्हारी दृष्टि क्षीण है, टांगें कांप रही हैं, तुम वहां कैसे जाओगे, जबकि मुझ जैसे हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति को ही वहां पहुंचने में बारह वर्ष लग गए थे। तुम तो मार्ग में ही मर जाओगे।" ऊना भाट ने सोचा कि अब घर से निकल ही पड़ा हूं तो पुत्र रक्षार्थ सब कुछ कर ही लूंगा। अन्ततः पंडित नाग ने उसे वहां जाने का मार्ग बता दिया और उसे यह आशीर्वाद भी दे दिया कि तुम्हारी यात्रा सफल हो।

वयोवृद्ध ब्राह्मण बड़े श्रम से चढ़ाई चढ़ने लगा तो एकाएक उसके अवयवों में युवा सी शक्ति संचरित हो उठी तथा उसका शरीर वायु में ऊंचा उठ गया। पलक झपकते ही उसने स्वयं को उस जलाशय के समीप पाया जिसके नीचे महासू देवता का वास था। ब्राह्मण चकित सा इधर-उधर देख रहा था कि महासू का वजीर चकूरिया उसके पास आया और उसके आने का कारण पूछा। ऊना भाट ने अधीर होकर दानव जाति के अत्याचार और अपने छह बेटों की हत्या तथा सातवें पर मंडराते संकट की गाथा कह सुनाई और यह भी बताया कि उसकी पत्नी ने दैवावेश में महासू की शरण जाने की अतिमानवीय आज्ञा सुनाई थी। सब कुछ सुनने के पश्चात् चकूरिया ने उसे ताल के पीछे खेत में प्रतीक्षा करने को कहा। वह थोड़ी दूर गया था कि भूमि में एक स्वर्ण प्रतिमा निकली। ऊना भाट ने अनुमान लगाया कि यही महासू देवता है। वह

मूर्ति के साथ लिपट गया और करुण-स्वर में याचना करने लगा—"मैं तुम्हें नहीं जाने दूंगा, आपको मेरे पुत्र को बचाना ही होगा, या तो मेरे प्राण ले लो या मेरे साथ चलो।" महासू ने उसे सहायता का आश्वासन देकर कहा—"मैंने तुम्हारी प्रार्थना सुन ली है। मैं निश्चय ही तुम्हारे पुत्र को दैत्य से बचाऊंगा।" अब तुम घर जाओ, ठोस चांदी का हल बनाओ, उसमें सोने का फल लगाओ और अनजोते नए बैलों पर रखकर प्रतिदिन अपनी भूमि के एक भाग में हल जोतो अगले सातवें एतवार को मैं अपने भाइयों, वजीरों तथा सेना सहित आऊंगा और तुम्हारे सभी प्रदेशवासियों को दानवों के चंगुल से मुक्त कर दूंगा। परन्तु सावधान रहना, उस दिन (सातवें रविवार को) हल न चलाना। इतना कहने के पश्चात् देवता ब्राह्मण के आलिंगन से खिसककर लुप्त हो गया और ब्राह्मण ने जब आंखें खोलीं, तो स्वयं को अपने ग्राम में पाया। उसने सभी आप बीती घटनाएं अपने ग्रामवासियों को कह सुनाईं। तदुपरान्त उसने महासू देवता के आदेशानुसार खेत में हल जोतने की क्रिया आरम्भ कर दी। प्रत्यावर्तन के उपरान्त छटे रविवार को वह हल चलाने गया, अभी उसने पांच ही हल-रेखाएं खेंची होंगी कि प्रत्येक हल-रेखा में से देवता की मूर्ति उभरने लगी। पहली रेखा से 'भोटू' दूसरी से 'पवसी', तीसरी से बाशिक और चौथी से 'चलदू' निकला। ये चारों भाई महासू ही कहाते हैं। पांचवी रेखा से उनकी माता और शेष सारे खेत से देवता के मुख्यचर तथा सेना प्रकट हो गई। मन्त्री चकूरिया भी वहां अपने सहायक कपल, कैलू, कैलात तथा छोटे अधिकारी चहढ़या के साथ उपस्थित हो गया। उनके प्रथम दर्शन पर तो ब्राह्मण अचेत होकर गिर पड़ा। परन्तु देवता के सेवक उसे चेतन अवस्था में लाए। उन्होंने उसे हौंसला दिया और कहा कि हमें दानव का निवास-स्थान बता दो। वह उस अंधेरे जलाशय पर ले गया, जहां दाणू रंगरेलियां मनाया करता था। उन्होंने देखा कि दानवराज के असंख्य दुष्ट सैनिक भी वहीं पर हैं। महासू ने उसे युद्ध को ललकारा। घाटियों, पहाड़ियों, वनों में भयानक रक्तपात हुआ और बड़ी मारकाट के बाद दानव हार गए। 'दाणू' भाग खड़ा हुआ, परन्तु क्रुद्ध शत्रु उसका पीछा करते रहे। उसे 'दाड़ी' रियासत के 'निबाड़ा' ग्राम के समीप पकड़ लिया गया और उसे एक शिला पर लिटाकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए। तलवार के निशान अभी भी उस शिला पर विद्यमान हैं।

इस प्रकार दानव राजा का तो अन्त हो गया, परन्तु उस क्षेत्र के लोग अभी उसी राजा सरीखा ढंग अपनाए रहते थे। अब समय परिवर्तन के साथ उनके आचार-विचार सभी में सुधार हो गया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि शायद वे लोग दानव सेना के ही बचे सैनिकों में से होंगे। इसके पश्चात चारों महासू भाइयों ने इस क्षेत्र को सुविधानुसार चार भागों में बांट लिया। महासू ने ऊना भाट से सातवें रविवार को हल चलाने की मनाही की थी। परन्तु किसी गणनात्मक त्रुटि के कारण या अधैर्य के कारण वह छठे रविवार को ही भूमि पर आ गया। इसके लिए वह दोषी नहीं था तथापि माता और तीन भाई हल के फल से आहत हुए व उनका अंग भंग हो गया। भोटू को घुटने पर चोट लगी और वह पंगु हो गया। पवसी के एक कान के भाग में एक

छोटा-सा कट लग गया और वह बहरा हो गया। बाशिक की आंख पर चोट लगी और वह दृष्टि खो बैठा, मात्र चलदू ही ऐसा था जिसका अंग भंग नहीं हुआ।

अब भोटू 'अनेल' मन्दिर में अपने घुटने को आराम देता हुआ निवास करने लगा तथा समीपस्थ आधिपत्य की रक्षा भी। पवसी को गढ़वाल क्षेत्र मिला था जहां उसके चार मन्दिर हैं। क्षीण दृष्टि होने के कारण वह एक वर्ष में एक से दूसरे मन्दिर पहुंचता था। चलदू के सभी अंग पूर्ण थे, अतः उसे आदेश हुआ कि वह अपने भाइयों से स्नेह रखते हुए जहां भक्त मिलें, निवास करे। यह अनुमान आने वाले समय में सत्य सिद्ध हुआ। आज चलदू की मान्यता सर्वाधिक है और उसकी लोकप्रियता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। वह लगातार बारह वर्ष तक अपने भक्तजनों में घूमता रहा। प्रत्येक व्यक्ति उसे डेढ़ रुपया भेंट करता था। क्षेत्र के कृषक अन्न तथा वाद्य-यन्त्र भी उसे देते थे। जब भ्रमण करके देवता बारह वर्ष के लिए अपने निवास स्थान में विश्रामार्थ गया तो सभी कृषकों ने सुख की सांस ली। चलदू का मन्दिर अनेल (भोटू का स्थान) के निकटस्थ ग्राम में स्थित है।

बुशैहर जनपद में महासू आस्था— बुशैहर के अनेक ग्रामों में चलदू महासू इस परिवार का सर्वाधिक मान्य या फिर प्रचण्ड स्वभाव का देव माना जाता है। इस क्षेत्र के लोगों द्वारा महासू के जीवन की कथा का विवरण इस प्रकार दिया गया है—महासू परिवार का काश्मीर में आधिपत्य था और सबसे बड़ा भाई छोटे भाइयों, मन्त्रियों तथा निम्नवर्गीय देवताओं के साथ राज किया करता था। उसके सम्मान को चुनौती तथा गरिमा पर धब्बे के रूप में एक सबल देव चसरालू निकट ही राज्य करता था। प्रायः इन दोनों में झगड़ा चलता रहता था। एक बार महासू ने चसरालू को छद्म से अपने अति निकट बुला लिया तथा अपने खड्ग प्रहार से उसे घायल कर दिया। लाहू उगलते बड़े घाव सहित चसरालू अपने प्राण बचाकर वहां से भाग गया। महासू ने अपनी पूरी सेना व सेना-नायकों के साथ उसका पीछा किया। उन्हें बड़ी दूर तक उसका पीछा करना पड़ा क्योंकि वह एक अच्छा धावक था और आक्रामक के चलने से पहले काफी दूर जा चुका था।

कई दिन हिमाच्छादित श्रृंगों, घुमावदार घाटियों और घने वनों में कोलाहल होता रहा और पलायन कर्त्ता का पीछा चलता रहा। धीरे-धीरे तथा निश्चित रूप से उसे पकड़ने में सफलता निकट आती जा रही थी। थका तथा आहत चसरालू आत्म-समर्पण करने को ही था कि उसे चट्टान में एक दरार दिखाई दी, जो नीचे को उतर गई थी। वह उसमें शीघ्रता से अन्दर चला गया क्योंकि समीप ही खड़ा शत्रु उस पर खड्ग से प्रहार करने वाला था। वहां छिपकर उसने नयी शक्ति और साहस बटोरा। इधर महासू अपने वजीरों से सलाह करता रहा। उसने पूछा, "कौन इतनी सामर्थ्य रखता है जो चसरालू को उसके आश्रयस्थल से बाहर निकाले!" परन्तु किसी में भी उसके उस सुरक्षित स्थान पर जाने का साहस नहीं था। अन्त में एक छोटा-सा देवता 'जख' बोला—"कमीने कुत्ते को अनन्तकाल तक इसी अंधेरे गह्वर में सड़ने दीजिए।

मैं और आपके अन्य चार देवता गह्वर के पांचों रास्तों पर पहरा देंगे और वह दर्रे, नदी या घाटी किसी भी मार्ग से भाग न सकेगा। हम उसके सुरक्षित बन्धन की जमानत देते हैं, यदि आप हमारे क्षेत्रों को पूर्णतः हमारे अधिकार में दे दें और आगे को कोई बाधा न पहुंचाएं।" महासू अपने पुराने शत्रु को अपने समक्ष तिल-तिल कर मरता देखना चाहता था। परन्तु कोई चारा न देख उसने 'जख' का परामर्श स्वीकार कर लिया। 'जख' और अन्य अनुचरों को वह क्षेत्र सौंप वह अपने भाइयों, मन्त्रियों व सेवकों सहित लौट पड़ा। घूमते-घूमाते वह 'अनेल' पहुंचा और यहीं उसने अपना निवास स्थान बना लिया। पीछे छोड़े चारों देवता अपना-अपना कार्य करने लगे। 'जख' जंगल में रहता था और उत्तरी दर्रे की रक्षा करता था। 'तगू' 'मेरी नाग' पाब्बर नदी तथा पश्चिमी घाटी पर पहरा देता था। डूडी और गोराबाड़ी में दक्षिण की ओर चिल्लम तथा नारायण का पहरा रहता था और सड़क की ओर चौकसी 'पेका नाग' करता था।

चाहे 'चसरालू' पर सभी ओर से प्रतिबन्ध लगे हुए थे, तथापि समय बीतने के साथ-साथ उसे पुनः प्रसिद्धि और मान मिलने लगा। पिछले कुछ वर्षों तक उस गुफा में एक वेदी थी, जहां आश्चर्यजनक भविष्य संकेत मिलते थे। एक चतुर तान्त्रिक गुफा में जाकर आंखें बन्द कर प्रार्थना करता था और छत से गिरने वाले पदार्थों को वह अपनी झोली में ग्रहण करता था। यदि बछड़ा गिरता तो उसे शुभ माना जाता था क्योंकि यह धान्य एवं पशु धन की वृद्धि का द्योतक था। यदि कबूतर गिरता तो बीमारी की सूचना मिलती। सर्प का गिरना ग्रामवासियों के लिए अति कष्टप्रद वर्ष का सूचक था। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि प्रार्थनारत तान्त्रिक के सामने जीवित व्यक्तियों की परछाइयां गुजरतीं। यह संकेत था कि मनुष्य चाहे कितने भी स्वस्थ क्यों न हों, इस वर्ष मर जाएंगे। यहां गड़े धन का पता भी बताया जाता था। इच्छावान् व्यक्ति अज-बलि देकर उसका सिर विवर के पास रख देता था, तब चसरालू जानकर चेले की सहायता से गड़े धन का पता बता देता था। खजाना मिलने पर प्राप्तकर्त्ता पुनः घर जमीन या मूल्यवान वस्त्र देवता को भेंट करता था।

उधर महासू ने घोषणा कर दी कि "चसरालू गुफा में ही खत्म हो चुका है और अब उसका कुछ नहीं बचा है।" प्रहरी देवताओं को भी महासू ने कोई दोष नहीं दिया क्योंकि चसरालू किसी भी मार्ग से भागा नहीं था अपितु शून्य में विलीन हो गया था। इस घटना के बीस वर्ष पश्चात् महासू का एक पुजारी जो अपनी भयावह मंत्र शक्ति के लिए विख्यात था, पांचों शक्तियों के ग्रामों में आया और ग्रामवासियों को यह सब कुछ बताया। उसने कहा—"अब प्रहरियों की कोई आवश्यकता नहीं रही है, अतः महासू अपने इस क्षेत्र में आने की इच्छा रखता है। ग्रामीणवासी उसके विश्वासघात पर क्रुद्ध हो उठे और उस पुजारी को मारकर भगा दिया। उनका कहना था कि वे कदापि महासू को अपने ग्रामों में नहीं आने देंगे और पुजारी को भी सचेत किया कि ऐसा प्रस्ताव लेकर फिर कभी उनके पास न आए। पुजारी अपने प्राण बचाकर वहां से भागा, परन्तु जाते-जाते बदला लेने की धमकी भी दे गया। इसके बाद उस क्षेत्र के लोगों पर विपत्ति और

विपदाओं का पहाड़ टूट पड़ा और तभी बन्द हुआ, जब उन्होंने भयाक्रान्त होकर नए देवता को भेंट की तथा चसरालू के निवास स्थान को त्यागा। पुराने स्वामी महासू के आगमन से सर्वाधिक हानि 'जख' को हुई। उसका एक मन्दिर 'डोडरावक्वार' में भी बन गया था। तथा समनामा पूर्व प्रसिद्ध देवता से उसकी मैत्री हो गई थी। परन्तु अब उस क्षेत्र के लोग 'जख' को मान्यता नहीं देते। लोग काश्मीरी महासू से अत्यधिक डरते हैं और उनकी धारणा है कि उसे आने ही न दें क्योंकि बाद में उसे निकालना तो असंभव होगा।

महासू में अंधविश्वासी लोग कितना डरते थे। इसका एक मनोरंजक उदाहरण निम्नलिखित है--एक ग्राम में महासू का नाम लेना भी पाप समझा जाता था तथा यह 'शालू' देवता का मुख्य धाम था। इसके समीपस्थ दूसरे गांव में भी 'शालू' का मन्दिर है जो कांस्य पात्रों, सींगों तथा वस्त्रों की झण्डियों से सजा उसके मान एवं वैभव का प्रमाण प्रस्तुत करता है। परन्तु अब उसके निकट ही महासू का मन्दिर है। अकेले 'शालू' को प्राप्त होने वाली भेंटें तथा उपहार महासू मन्दिर में भी चढ़ाई जाने लगी। घुसपैठिए देवता ने कैसे भक्त तथा मन्दिर प्राप्त किए? स्वयं में एक रुचिकर प्रसंग है। कुछ वर्षों तक इस क्षेत्र में सभी प्रकार की उत्पत्तिवृद्धि बन्द रही। स्त्री, भूमि, पशु सभी में जननउत्पत्ति बन्द हो गई। कुछ समय पूर्व जो बालक उत्पन्न हुए भी थे, वे भी आकस्मिक बीमारी से चल बसे। सायंकाल को लोग स्वस्थ भेड़ों को बाड़ों में बन्द कर देते थे, परन्तु प्रातः पांच सात मृत या मरणासन्न मिलती थी। अन्त में एक कुशल तान्त्रिक को बुलाया गया, उसे पूर्ण विवरण देने के बाद लोगों ने कारण पूछा। तब तान्त्रिक ने मंत्र पढ़ना आरम्भ किया। वह सिर को पीछे झुकाकर शरीर को दृढ़ कर बैठा रहा। शीघ्र ही उसके शरीर में कंपकंपी होने लगी और वह दैवी-शक्ति के प्रभाव में आ गया। तब उसने लोगों को ऊंचे स्वर में बताया कि अनजाने में महासू की कोई वस्तु उनके ग्राम में आ गई है और उसी के साथ महासू देवता भी। वह अपनी किसी भी वस्तु को छोड़ता नहीं। यह सब कष्ट-चक्र उसके आगमन तथा पूजा व मन्दिर की मांग के लक्षण हैं। इस तान्त्रिक का महासू भक्ति धारा से कोई सम्बन्ध नहीं था। अतः उसमें व्यक्तिगत स्वार्थ की शंका ही नहीं हो सकती थी।

महासू में चित चांचल्य भी प्रचुर मात्रा में है। एक ग्राम में पुरानी पीढ़ियों के लोगों ने सुन्दर स्थान पर एक सुदृढ़ और भव्य मन्दिर का निर्माण करवाया और महासू कई वर्षों तक एक शान्त प्रकृति देवता की भांति वहां वास करता रहा। अचानक एक दिन महासू अधीर हो उठा और अपने भक्तों को तंग करने लगा। निरन्तर किसानों की कई फसलें नष्ट हो गईं और इसका मूल कारण कोई प्राकृतिक दैवी आपदा (प्रकोप) ही माना गया। अतः यथारीति तांत्रिक को बुलाया गया। भेद खुला कि महासू अपने मन्दिर से बिलकुल संतुष्ट था। परन्तु यह सड़क के साथ ही स्थित था और कोई भी स्वाभिमानी देवता पसन्द नहीं करता कि जनसाधारण उसके मन्दिर को श्रद्धा रहित दृष्टि से देखते आगे निकल जाएं। तान्त्रिक के आगे बताया कि यह मन्दिर महासू अपने

मन्त्री को दे देगा और अपने लिए ग्राम मुखिया की सुन्दर भूमि में नया मन्दिर चाहता है। भक्तों ने निर्दिष्ट भूमि पर उसके नए मन्दिर का निर्माण करवा दिया। तब महासू ने अपने चार वजीरों के लिए भी नए भवनों की मांग की और उस क्षेत्र के समृद्ध व्यक्तियों की उर्वर भूमि पर लोगों ने उनके मन्दिरों का भी निर्माण करवा दिया।

बुशहर में महासू का प्रमुख स्थान—बुशहर में 'शील' महासू का प्रमुख स्थल है तथा प्राचीनतम भी है। यह पदार्पण एक कौतुक के कारण हुआ जिसमें महासू का निश्चय ही कोई हाथ नहीं था। कई सौ वर्ष बीते गढ़वाल का निस्संतान राजा हाटकोटी की देवी से पुत्र-प्राप्ति की मनौती मानने के लिए आया। स्थानीय राजा ने जैलदार तथा निकटस्थ ग्रामों के प्रधानों को आदेश भेजे कि आने वाले राजा की सुख-सुविधा का ध्यान रखें। लापरवाही से या योजनानुसार उन्होंने अतिथि राजा की कोई सहायता नहीं की तथा उसे बड़े कष्ट सहने पड़े। देवी के मन्दिर में पूजा कर तथा मनौती मानकर लौटते हुए वह जैलदार तथा प्रधानों को बन्दी बनाकर गढ़वाल ले गया। वहां उन्हें काल कोठरी में डाल दिया, जहां उन्हें न दिन का पता चलता, न रात का। वे एक मास तक मुक्ति हेतु अपने आराध्य देव की पूजा करते रहे, पर उनकी प्रार्थना का उस पर कोई प्रभाव न पड़ा। उसी कोठरी में महासू में निष्ठा व आस्था रखने वाले लोग भी थे। उन्होंने महासू के शौर्य एवं पराक्रम की कौतुकपूर्ण कथाएं सभी लोगों को सुनाईं। अब तो इन लोगों ने भी मनौती मानी कि यदि महासू उन्हें इस अंधकूप से मुक्त करवा दें तो वे उसकी पूजा करेंगे तथा पहले देवता को त्याग देंगे। भवितव्यता यह हुई कि कुछ दिन बाद देवी 'हाटकोटी' के वरस्वरूप राजा की प्रियतम रानी को पुत्र रत्न की प्राप्ति हो गई। बड़ी धूमधाम से समारोह तथा दान-पुण्य आदि का आयोजन किया गया तथा सभी बन्दियों को जेल से मुक्त कर दिया गया। इन्हीं लोगों के साथ जैलदार व प्रधान भी मुक्त हो गए। यह सब कुछ देवी की कृपा एवं उसकी शक्ति का फल था। परन्तु उनके मनमें यह दृढ़ विश्वास जम गया कि यह महासू की ही दया दृष्टि से हुआ है। गांव जाते हुए गढ़वाल से उसकी मूर्ति भी साथ ले गए और उसे सुनिर्मित मन्दिर 'संदूर' में प्रतिष्ठापित कर दिया। प्रत्येक प्रधान ने अपने-अपने ग्राम में भी महासू पूजा का प्रचलन किया।

शीलग्राम में पहुंच जैलदार ने भी सारी कहानी सुनाई। ग्रामवासियों ने महासू को द्वितीय कोटि की शक्ति मानकर ग्राम से बाहर उसका मन्दिर बना दिया। कुछ समय तक लोग पर्याप्त निष्ठा से पूजा और मन्दिर की देखभाल करते रहे। परन्तु धीरे-धीरे मन्दिर की देखभाल में ढील आने लगी। भेंट आदि में भी व्यवधान आने लगा और शनैः-शनैः मन्दिर जीर्ण हो चला। कुछ समय तो इस दण्डनीय उपेक्षा को महासू ने सह लिया, परन्तु वह उग्र हो उठा।

एक दिन कृषक की गृहिणी में प्रेतबाधा के लक्षण प्रकट होने लगे। बोलते-बोलते एक वाक्य के मध्य में उसकी वाक्शक्ति जाती रही। बोलने के यत्न में उसके ओंठ कांपते तथा अस्पष्ट ध्वनि निकलती। शीघ्र ही वह कांपने लगी और फिर गिर पड़ी।

फिर वहां से कांपती-कांपती ही उठी और उठने पर भयावह चीत्कार करने लगी। कुछ अन्तराल के बाद उसके उन्माद के सभी लक्षण लुप्त हो गए और वह मानसिक रूप से पूर्ण स्वस्थ हो गई। कुछ समय के बाद उसे फिर इसी प्रकार की बाधा हुई और ग्राम की एक अन्य औरत की स्थिति भी उसी की तरह हो गई। फिर दोनों कुछ समय तक पूर्णत: स्वस्थ हो गईं। एक दिन उन्हें फिर दौरा पड़ा। दौरा पड़ते ही तीसरी औरत भी उन्हीं की तरह हो गईं। इस प्रकार दिनोंदिन इसी प्रकार की औरतों की संख्या में बढ़ोतरी होने लगी और संख्या छह तक पहुंच गई। तब लोगों ने एकत्रित होकर सोच-विचार और विमर्श करने के पश्चात् यही निर्णय लिया कि किसी तान्त्रिक को इसी हेतु बुलाया जाए। तान्त्रिक लोगों के मध्य-नंगे सिर खड़ा हो गया। उसका पूरा शरीर देवाविभूत हो कांपने लगा। उसने बताया कि उग्र महासू क्रुद्ध है क्योंकि उसकी वेदी की अवहेलना की गई है और मन्दिर भी नष्ट प्राय: हो गया है। यदि उन्मत्तता की इस महामारी से तुम मुक्ति चाहते हो, तो उसकी वेदी को शुद्ध कर अजबलियां दो और मन्दिर का पुन:निर्माण करो। इस प्रकार महासू का नया मन्दिर अस्तित्व में आया।

महासू का असंतुष्ट, ईर्ष्यालु एवं असहिष्णु रूप—महासू देवता का असंतुष्ट, ईर्ष्यालु और असहिष्णु रूप भी है। इसके उदाहरण स्वरूप निम्न घटना सुनाई जाती है—वंशानुगत के आराध्य 'शालू' का मन्दिर उच्च स्थान पर ग्राम में स्थित था और महासू का ग्राम से बाहर नीचे था। जैलदार की शपथ के आधार पर महासू शालू को निकालना चाहता था और अपने लिए नया मन्दिर चाहता था। उधर शालू के भी पर्याप्त भक्त थे और वह कोई दुर्बल देवता नहीं था। अत: संघर्ष अवश्यंभावी था। ग्रीष्मागमन पर जब विकट शीत से त्राण मिलता है और निचले दर्रों में बर्फ पिघल जाती है तो चरवाहों के झुण्ड अपनी भेड़ बकरियों को पहाड़ी गोचर भूमि पर ले जाते हैं। ऐसा ही एक दल पंदरासन परगनें से भी चला। वे सुखद मंथर गति से प्रात:-सायं तो चलते थे परन्तु दोपहर में थके हुए पशुओं को विश्राम देने के लिए ठहर जाते थे। रात को किसी समतल भूमि पर रात गुजारते थे और उनके विशाल कुत्ते मनुष्यों तथा बाघ आदि जंगली पशुओं से भेड़-बकरियों के झुण्ड की रक्षा करते थे। इसी प्रकार यात्रा करते-करते वे एक पर्वत शिखा के झुकाव से बने समतल भू-भाग पर पहुंचे। वहां पर प्रचुर बनस्पति थी। उन्होंने निर्णय किया कि जब तक यहां घास-वनस्पति हैं, पशुओं को यहीं विश्राम देंगे। अत: उन्होंने भेड़-बकरियों को स्वतन्त्र चरने के लिए छोड़ दिया। इसी बीच मनुष्यों ने अपने लिए पत्थरों का आवास बना लिया।

सायंकाल को बिखरे पशुओं को एकत्र करने के लिए कुत्ते चारों ओर भेजे गए। परन्तु लगातार भौंकने पर कुत्तों ने गडरियों को सचेत किया। इस आशंका से कि किसी बाघ ने किसी भेड़ को न पकड़ लिया हो। वे दौड़कर कुत्तों सी आवाज की ओर दौड़कर गए। वहां उन्होंने देखा कि एक हृष्ट-पुष्ट भेड़ समतल भूमि पर आराम से लेटा हुआ है। कुत्तों के उसे उठाकर झुण्ड में मिलाने के सभी प्रयत्न व्यर्थ सिद्ध हुए। गडरिए भी चिल्लाने, शोर मचाने तथा उस पर छोटे-छोटे पत्थर मारने लगे, परन्तु सभी निष्फल

गए। एक गडरिया उसके हठ पर चिढ़ गया और खड्ग प्रहार से उसे समाप्त कर दिया। दूसरा आदमी उसके मृतक शरीर को उठाने लगा तो नीचे से दो चमकती स्वर्ण आकृतियां निकली। तभी समीपस्थ पत्थर से अतिमानवीय ध्वनि गूंजी। वे छोटी मूर्ति को उठाने ही वाले थे कि यह धीमी गति से स्वतः चलने लगी। क्रमशः गति बढ़ती गई और मूर्ति समतल भूमि के किनारे से नीचे जाकर नदी में बह गई और दृष्टि से ओझल हो गई। उन्होंने वध किया भेड़ गुंजित होने वाली शिला को अर्पित किया और बड़ी मूर्ति को उठाकर अपने डेरे में ले आए। उनमें से कोई भी दैविक संकेतों और शकुनों को नहीं जानता था। अतः वे शीघ्रता से अपने सम्मलित स्थान पर 'शिला' में आ पहुंचे। सभी ग्रामीणवासियों को बार-बार वही कथा सुनाई। सुन्दर प्रतिमा को देखने को लालायित जनसमूह उमड़ पड़ा। एक 'ओझा' (चेला) बुलाया गया जिसने यह बताया कि यह शुभ शकुन है और एक दयालु देवता उन गडरियों में वास करना चाहता है। यदि वे उसके लिए शीघ्र ही लम्बा-चौड़ा मन्दिर बना दें तो वह उनकी तथा धन-सम्पत्ति की भी रक्षा करेगा।

लोगों ने स्वेच्छा एवं प्रसन्नता से देवता का दोमंजिला भवन बनाया और शुभ मुहूर्त में ऊपरी मंजिल में मूर्ति स्थापना की गई क्योंकि देवता 'शिल' (समागम स्थल) पर प्रतिष्ठित किया गया था। अतः उसका नाम 'शैलू' रखा गया। अब भी गडरिए ऊपरी पर्वतों की ओर प्रयाण करने से पहले यहां एक सम्मेलन करते हैं। मन्दिर की ओर से प्रत्येक भेड़-बकरियों के झुण्ड के मुखिया को देवता चिन्ह (मन्त्र) भी दिया जाता है। 'शालू' की मान्यता की जड़ें इतनी गहरी जमी हैं कि किसी अधिक बल और सक्षम देव के लिए जनमानस उसे त्यागने को उद्यत नहीं। इसी 'शालू' देवता के साथ महासू का घात-प्रत्याघात चलता है। मन्दिर के साथ जुड़े घरों के वासियों ने तो इस कारण बड़े कष्ट सहे हैं। कुछ परिवार तो इसी कारण समाप्त हो गए हैं, कुछ ने रोगघात सहे हैं और कुछ सर्वस्व खोकर विपन्न हो गए हैं। महासू देवता के क्रोध का प्रथम प्रमाण कोई सवा दो सौ साल हुए देखने को मिलता है।

लोगों का विश्वास है कि शैलू-मन्दिर से सटी हुई एक ढलान के सिरे पर एक बड़े विशाल मकान में कई कृषक रहते थे और अन्य सभी लोगों की भांति 'शालू' में दृढ़ आस्था थी। उन दिनों महासू का मेला होकर हटा ही था कि एक रात एक किसान अपने अन्नकूप से जौ निकाल रहा था और उसकी पत्नी बोरी का मुंह खोले उसके साथ खड़ी थी। एक परिजन ने ड्योढ़ी में प्रवेश किया ही था कि बिना किसी लक्षण या संकेत के पूरा विशाल-भवन नीचे को खिसकने लगा। शहतीर और कड़ियों ने सभी लोगों को मलवे में जकड़ डाला, कोई भी उन्हें निकाल न सका। यह सब कुछ बिना आहट तथा शब्द के हुआ। ग्राम के अन्य लोगों को सारी घटना का पता प्रातः जाकर चला। वे नीचे उतरकर खण्डहर के पास गए तो एक आवाज ने उन्हें भान कराया कि कम-से-कम एक व्यक्ति जीवित है। शीघ्रता से लोगों ने मिट्टी (मलवे) और शहतीर आदि हटाए तो कुछ व्यक्ति मलवे के नीचे जीवित मिले। उन्हें मात्र कुछ खरोचें ही आईं

थीं। मृत्यु एवम् जीवन पर अपना अधिकार प्रदर्शित करने हेतु ही मानो महासू ने उनकी निचली मंजिल में बंधी सभी भेड़-बकरियां समाप्त कर दी थीं।

वर्तमान जैलदार जो महासू को लाने वाले जैलदार का सीधा वंशज है। वह दु:खी मन से कहता है कि---"उस के पूर्वज के कारण यही आपदा उनके ग्राम में आई। परन्तु मैं सच्चे मन से पूर्ण देवता 'शालू' में श्रद्धा रखता हूं।" उस रात को हुए भूस्खलन से बचे एक व्यक्ति ने पूर्ण धैर्य और निर्भीक स्वर से कहा---"शालू हमारे पुरातन काल से पूजनीय देवता हैं और हम उनका मन्दिर किसी को नहीं देंगे, चाहे हमारा कितना ही अहित क्यों न करे।

भीत ग्रामीणों ने विपत्ति टालने मात्र की आशा से महासू के वजीर के लिए एक भवन बना दिया है तथापि आशंका है कि महासू अपने प्रभुत्व को त्वरित गति से स्थापित करने के लिए जैलदार के परिवार पर कोई आपदा अवश्य डालेगा। परन्तु विपत्ति तो आएगी ही, यह सुनिश्चित है। निकटस्थ अन्य ग्राम में भी पुराने जैलदार के साथ मुक्त हुआ एक व्यक्ति महासू को सौभाग्य या दुर्भाग्य से अपने साथ ले आया था। वहां पर महासू के कृत्य इस धारणा को प्रबल करते हैं। प्राचीन देवता 'नागेश्वर' (सर्पराज) वहां का पूर्व देवता था। महासू के आते ही उसने लोगों को सचेत कर दिया कि दो समबल देवों को संतुष्ट रखना उनके लिए कठिन होगा और कहीं नया देवता पहले से अधिक ईर्ष्यालु और कष्टदायक सिद्ध न हो। कुछ पीढ़ियों तक तो नागेश्वर पारिवारिक देवता के रूप में पूजित होता रहा। परन्तु उसका मन्दिर वीरान रहने लगा और दयनीय जीर्णावस्था को पहुंच गया। दीवार गिर चलीं और भेंट किए गए पात्र भी काले पड़ गए। दूसरी ओर महासू का मन्दिर विस्तृत क्षेत्र में भव्य आकार में खड़ा था और भक्तों-सेवकों तथा भेटों का तांता लगा रहता था। वे लोग तो यह भी कहने लगे कि गढ़वाल का राजा महासू से ही वरेच्छा लेकर आया था। देवी का इसमें कोई सम्बन्ध न था। वे तो इस कथा को रूपान्तरित सा सुनाते हैं। गढ़वाल नरेश का पुत्र सांझे शत्रु कुल्लू नरेश से युद्ध में बुशहर की सहायता को आया था और इसी युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ। शोकाकुल पिता यह कटु सत्य मानने को तैयार न था। उसका कथन था कि कुछ लाभ प्राप्ति के लिए बुशैहर वालों ने उसके पुत्र को छुपा लिया है। अत: वह जैलदार तथा अन्य कई प्रमुख व्यक्तियों को बंदी बनाकर ले गया और काल कोठरी में डाल दिया। यहां उनकी प्रार्थना सुन महासू ने उनकी बेड़ियां तोड़ डालीं और कारागार के एक भाग को तोड़ भाग निकलने का रास्ता भी बना दिया। इस कृपा के कारण साथियों सहित जैलदार अपने ग्राम आया। यहां के लोगों का विश्वास है कि यदि उनकी इच्छाएं पूरी होती रहें और देर न की जाए, तो वह सभी से नम्र देवता है। मानवीय हो या अति-मानवीय चुनौती और विरोध को वह सह नहीं सकता। असत-सत के विचार से वह शून्य नहीं है। किसी चोर, असत्य प्रचारक को वह सहन नहीं करता तथा पापियों की प्रार्थना भी नहीं सुनता।

देवता का पर्व दिवस

भाद्रपद की शुक्ला चतुर्थी इस देवता का पर्व दिवस होता है। प्रातः ही पुजारी मूर्तियों तथा पूजा के पात्रों को समीपस्थ नदी या झरने पर ले जाते हैं तथा वहां उन्हें अच्छी तरह धोते हैं मूर्ति को स्नान कराते हैं। कपड़े में लिपटी मूर्ति को ब्राह्मण छिछोरी नजरों से बचाकर मन्दिर में लाते हैं। श्रद्धालु जनसमुदाय दूर से ही सब विधान को देखता है क्योंकि समीप जाने से शाप भय होता है। मन्दिर में मूर्तियों तथा पात्रों को पर्दे में रखा जाता है, केवल एक मूर्ति को रथ में छोड़ देते हैं। समस्त दिन इसी मूर्ति के सामने रीति-अनुसार समारोह आयोजित होता है। रात को इसे भी अन्दर रख देते हैं। दियार (देवदार) का वृक्ष काटा जाता है और उसका एक स्तम्भ बनाकर उस पर देवता का ध्वज फहराया जाता है। छोटी-छोटी टहनियां थोड़े-थोड़े अन्तर से गाढ़ दी जाती हैं और उनके मध्य में पत्थर रखे जाते हैं। इस प्रकार एक चबूतरा सा बन जाता है। संध्या के समय जनसाधारण एक भेड़ू और एक बकरा प्रस्तुत करते हैं। भेड़ू को तो चबूतरे पर भेंट चढ़ा दिया जाता है और बकरे को अन्दर मन्दिर में ले जाते हैं। जब जीव कांपकर देवता की स्वीकृति प्रकट कर देता है तो उसे भी बाहर लाकर बलि दे देते हैं। मन्दिर के भीतर बलि नहीं दी जाती क्योंकि महासू-परिवार रूधिर देखना पसन्द नहीं करता। जब अन्धेरा होने लगता है तो स्त्री-पुरुष सभी श्रद्धालु जलती लकड़ियां लेकर चबूतरे पर डाल देते हैं और ज्वाला प्रदीप्त हो जाती है। इस ढेर में और बहुत-सी लकड़ियां डालते हैं ताकि प्रकाश क्षेत्र के ग्रामों तक जाए और महासू की गरिमा का संदेश पहुंचाए। जनसमूह नाचता-गाता रहता है। नाच के मध्य कोई देव उत्तेजित होकर गिर पड़ता है। तब वह वज़ीर के प्रति रोट और कुछ धन या फिर अज बलि देता है। यदि अधिक संख्या में लोग अभिभूत हों, तो माना जाता है कि देवता गरिमा त्याग खिलवाड़ कर रहा है। लोग घर की बनी मदिरा भी पीते हैं। परन्तु उन्हें मन्दिर में प्रविष्ट नहीं होने दिया जाता। मदिरा पीना वैसे भी घृणित काम है। स्त्री वर्ग मदिरा पान नहीं करता और पुजारी वर्ग भी इससे दूर ही रहता है। शराबी को पुजारी मन्दिर के भीतर नहीं आने देते। परन्तु यदि कोई आंख बचाकर बरामदे में पहुंच ही जाता है, तो उसे पापी माना जाता है और उसे भी भेंट, बलि आदि देने पड़ते हैं। अनेक लोग अधिक मदिरा पीकर बाहर ही मूर्च्छित अवस्था में पड़े रहते हैं। प्रातः भोज होता है। सभी श्रद्धालु भक्त जो चेतन अवस्था में होते हैं, इसका आनन्द लेते हैं। भोज के लिए प्रत्येक परिवार आधा सेर गेहूं का आटा और आधा सेर तेल देता है। इस भोज के साथ ही उत्सव का कार्यक्रम समाप्त हो जाता है तथा महान् महासू को अपने विस्तार कार्य भक्त-संख्या की वृद्धि के लिए वर्ष भर के लिए एकान्त में छोड़ दिया जाता है।

श्री गुल देव-आस्था

हिमाचल प्रदेश में 'श्री गुल' देव-आस्था पूजा विधान तथा प्रचलित आख्यान के विषय में विद्वानों की विभिन्न दृष्टियां हैं। अतः सर्वप्रथम 'श्री गुल' शब्द विचारणीय है। कुछ लोगों का विचार है कि 'श्री गुरु' में संयुक्त 'उ' स्वर का प्रयत्नलाघव के कारण लोप तथा 'रलयोरभेदः' 'र' तथा 'ल' में अभेद मानकर 'श्री गुल' शब्द प्रचलित हुआ होगा। अन्यों की धारणा है कि यह शब्द 'शरद्' का अपभ्रंश रूप है, क्योंकि भक्तजन इसके प्रति शरद् रोग निवारक देवता के रूप में आस्था रखते हैं। शीत-व्याधियों में विशेषतः पाण्डुरोग निवारण हेतु किसी देव की प्रार्थना व अर्चना से इस देव का प्रादुर्भाव हुआ होगा। पुराणों में शिव का 'अकुल' पर्याय मिलता है जिसका अर्थ है अज्ञात कुल। महाशिव के अनादि, अजन्मा होने से यह अभिधान सार्थक प्रतीत होता है। उसी का अंश होने से 'श्री अकुल' नाम पड़ा जो संभवतः रूपान्तरित होकर 'श्री गुल' के रूप में प्रचलित हुआ। शिव ऐन्द्रजालिक कृत्यों के प्रथम आचार्य हैं। लोक विश्वास के अनुसार मंत्र तथा तंत्र उन्हीं के द्वारा रचित हैं। हिमाचल में आज भी लोक-भाषा में रचित मंत्रों में शिव का प्राधान्य है। इसी जनविश्वास की पुष्टि गोस्वामी तुलसीदास ने भी की है —

कलि बिलोकि जगहित हर गिरिजा।
साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा॥

शिव का पूजन हिमाचल में इसी रूप व नाम से उतना प्रचलित नहीं है जितना इससे निःसृत 'श्री गुल' धारा तथा 'महासू' धारा के रूप में है। 'श्री गुल' धारा स्वयं में पर्याप्त मनोरंजक है। इस दैवी शक्ति का निवास-स्थल तो चूड़धार में है। परन्तु सिरमौर जनपद में इसकी विशेष प्रभुता है।

सिरमौर में श्री गुल-आस्था

सिरमौर जनपद में 'श्री गुल' की कथा इस प्रकार प्रचलित है—शाया ग्रामवासी भकड़ू राजपूत निःसन्तान था। पुत्र-प्राप्ति की इच्छा से प्रेरित वह काश्मीर के पण्डित पाणु से परामर्श करने गया। पण्डित की पत्नी ने भकड़ू को बताया कि वे तो सो रहे हैं और निरन्तर छह महीने सोयेंगे। पण्डित से मिलाप दुष्कर सोच भकड़ू बड़ा दुःखी हुआ। उसे स्वयं भी कुछ सिद्धि प्राप्त थी। अतः उसने एक बिल्ली बनाई और उसे

पण्डित को जगाने के लिए भेज दिया। बिल्ली ने नोच-खरोचकर पण्डित को जगाया। जागने पर उसने भकड़ू को अपने शयन-कक्ष में बुला लिया तथा उसे बताया कि वह ब्रह्म हत्या के पाप के कारण सन्तान से वंचित है। उपाय एवं प्रायश्चित के रूप में उसे किसी ब्राह्मण कन्या से विवाह करना होगा। इससे उसे सन्तान प्राप्त होगी जो कि एक अवतार भी होगी। तदनुसार भकड़ू ने ऊंचे घराने की भाट कन्या से विवाह किया। इससे दो पुत्र—'श्री गुल' तथा 'चण्डेश्वर' उत्पन्न हुए। उनके जन्म के तुरन्त बाद माता-पिता दोनों का निधन हो गया और दोनों बालक अपने मामा के घर चले गए। वहां जाकर 'श्री गुल' भेड़ें चराने लगा और चण्डेश्वर गाएं।

एक दिन वैरभाव के कारण मामी ने 'श्री गुल' के सत्तुओं में मक्खी-मकड़ी आदि लघु जीव मिला दिए। सत्तू घोलने पर उसे पता लग गया। उसने सत्तू फेंक दिए और वहां से चूढ़धार की ओर भाग गया। सत्तुओं का वह पिण्ड भिड़ ततैया आदि के समूह में परिवर्तित हो गया और सबने जाकर उसकी मामी को दंशित किया। उनके विष प्रवेश से वह मूर्छित हो गई और अन्त में परलोक सिधार गई।

उधर चूढ़धार से दिल्ली देखकर 'श्री गुल', वहां जाने के लिए लालायित हो गया। अपने निवास-स्थान की रक्षा का भार एक 'भोर' (सेवक) 'चुरु' नामक कनैत राजपूत को सौंपकर तथा कुछ मूल्यवान वस्तुएं साथ लेकर उसने दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। उसके साथ कुछ अनुचर भी थे। मार्ग में वे रेणुका झील के किनारे रुके। रात्रि में एक सिंह ने उसके सेवकों पर आक्रमण कर दिया। श्री गुल ने उसे पराभूत किया तथा उससे यह वचन लेकर कि आगे से वह मनुष्यों पर आक्रमण नहीं करेगा कहकर उसे छोड़ दिया। इसी प्रकार आगे चलकर उसने 'यारडादून' में एक दानव को दमित एवं वचनबद्ध करके उसे जीवनदान दिया। दिल्ली पहुंचकर वह एक व्यापारी के पास मूल्य-वान वस्तुएं बेचने गया। व्यापारी अपनी मन्त्रशक्ति और जादू से उसकी कीमती वस्तु का भार पासंग के बराबर कर देता था और इस प्रकार वह श्री गुल को ठगने लगा। यह देख 'श्री गुल' ने रेशमी धागा बेचना चाहा। इसका भार इतना ज्यादा हो गया कि व्यापारी की पूरी दूकान में रखा सामान भी मूल्य न चुका सके। व्यापारी दौड़ता हुआ मुगल सम्राट् के पास गया और व्यापारी के कहने पर तत्कालीन सम्राट् ने 'श्री गुल' पर जादू-टोना करने का अभियोग लगाया।

इधर 'श्री गुल' ने अपनी रोटी पकानी चाही। चूल्हा बनाने के लिए भूमि खोदी तो नीचे हड्डियां निकलीं। भूमि को अपवित्र मान वह अपने दोनों पैरों के मध्य आग जला और ऊपर पतीली रख कर दाल पकाने लगा। तभी सम्राट् के सैनिक वहां उसे पकड़ने के लिए आ पहुंचे। श्री गुल को बन्दी बनाने के लिए संघर्ष हुआ। संघर्ष के कारण श्री गुल की पतीली उलट गई और उबलते पानी के प्रवाह ने आधे नगर को नष्ट कर दिया। अन्ततोगत्वा, श्री गुल को सम्राट् के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। उसका आदेश हुआ कि 'श्री गुल' को कारागार में डाल दिया जाए। परन्तु 'श्री गुल' को बेड़ियां पहनाना असंभव था, अतः उसकी पवित्रता भंग करने के लिए सम्राट् ने गाय का वध

करवाया और उसके चमड़े में 'श्री गुल' को सिलवा दिया। इस पर उसने बागड़ (बीकानेर) के 'गूगा-पीर' को एक पत्र लिखा। पीर ने अपनी सेना लाकर सम्राट् को पराजित किया और अपने दांतों से 'श्री गुल' के बन्धनों को काट कर मुक्त कराया। श्री गुल पुनः चूड़धार पर आ गया।

'श्री गुल' की अनुपस्थिति में 'दाणू' असुर ने 'चुरु' पर धावा बोल दिया तथा उसे पूर्णतः पराभूत कर आधी धार पर अपना आधिपत्य जमा लिया। प्रत्यावर्तन पर जब श्री गुल को यह ज्ञात हुआ तो उसने 'चुरु' सेवक को शाप दे दिया जिसके परिणाम-स्वरूप वह पत्थर हो गया। यह पत्थर आज भी वहां देखा जा सकता है। अब उसने 'दाणू' असुर पर आक्रमण किया, परन्तु असफलता ही मिली। तब उसने इन्द्रराज से असुर को खत्म करने के लिए सहायता मांगी। इन्द्र ने वज्र (तड़ित) भेज असुर को चूड़धार से भगा दिया। पलायन करते हुए असुर का सिर जुब्बल में एक पहाड़ी से टकराया और असुर पहाड़ी के बीच होता हुआ निकल गया। वहां पर 'ऊल गुहा' (कन्दरा) इसके प्रमाणस्वरूप आज भी विद्यमान है। वहां से वह 'सेंज' नदी और 'दारला' से होता हुआ, टौंस नदी पर जा पहुंचा और फिर सागर में जलमग्न हो गया। 'दारला' खड्ड तथा उसमें बहती जलधारा आज भी इसका प्रमाण दे रही है।

प्राकृतिक घटनाओं रूपी परिस्थितियों को शिव या शिवांशों से जोड़ने की परिपाटी

प्राकृतिक घटनाओं को शिव या शिवांशों से जोड़ने की परिपाटी विस्तृत रही है। एक किंवदन्ती के अनुसार पुरातनकाल में एक झोजरवासी चूड़धार पर गया और 'श्री गुल' से याचना की कि उसके ग्राम को एक नहर दे। वह तीन दिन बिना अन्नजल ग्रहण किए वहां पर लेटा रहा। एक साधु के वेश में श्री गुल उसके पास आया और उसे 'जलापूत' तुम्बा दिया जो एक पत्ते से ढका हुआ था। उसे श्री गुल ने यह निर्देश भी दिया कि तुम्बे को वहीं खोला जाए जहां वह जलधारा चाहता है। 'सीकन' पहुंचकर उसने तुम्बे को खोल दिया। उसमें एक सर्प निकल भागा और उसके पीछे-पीछे जल-धारा बह चली। इसे 'सीकन का पानी' कहा जाता है। अब यह जलधारा कई ग्रामों के खेतों को सिंचित करती है। उस व्यक्ति का अपना ग्राम अब भी जलहीन रह गया, यह सोच वह हताश हो पुनः चूड़धार गया और पुनः श्री गुल से पानी के लिए याचना की। श्री गुल ने उसे पुनः एक तुम्बा दिया और निर्देश दिया कि जहां जल की इच्छा हो, वहीं इसमें से पानी प्रवाहित कर देना तथा कहना—"नीचे झोजर ऊपर निर्झर", उससे तुम्हें पर्याप्त पानी प्राप्त हो जाएगा। परन्तु वह व्यक्ति एक बार फिर चूक गया और जल प्रवाहित करते समय कह बैठा—"ऊपर झोजर नीचे निर्झर, इससे ग्राम के नीचे छोटा-सा जल प्रवाह बह निकला। इस तरह उसकी इच्छापूर्ति फिर अपूर्ण ही रह गई।

जहां उपर्युक्त कथा 'श्रीगुल' के दिल्ली जाने की ओर संकेत करती है और सम्राट् द्वारा लूटे बड़े-बड़े कांस्य पात्रों को लाना इसका प्रयोजन निश्चित करती हैं, वहीं

एक अन्य कथा में 'श्रीगुल' का दिल्ली जाने के बारे में कोई संकेत नहीं है। इस कथान्तर के अनुसार श्रीगुल का पिता भकड़ू 'शाया' का राणा बताया गया है। श्रीगुल विरक्त हो गया था और चूड़धार, जहां शिव का निवास है, तप करने के लिए चला गया था। शिवजी की शक्ति से संतुष्ट हो वह बहुत प्रभविष्णु हो गया। उसने समीपस्थ ग्रामों के सभी बच्चों को कृमि रोग लगा दिया। तत्पश्चात् स्वयं भाट का रूप बनाकर प्रचार करने लगा कि यदि वे चूड़धार पर 'श्रीगुल' का मन्दिर बनवा देंगे तो उनके बालक रोग मुक्त हो जाएंगे। इस प्रकार चूड़धार पर श्रीगुल का मन्दिर बना और उसे 'देवता' के रूप में पूजा जाने लगा।

चूढ़धार में श्रीगुल का मन्दिर

चूढ़धार में बना श्रीगुल का मन्दिर वर्गाकार और पूर्वाभिमुख है। इसकी नौ फुट ऊंची एक ही मंजिल, एक बरामदा और त्रिअंकी छत है। सबसे ऊंची शहतीर (जिसे खींवर कहते हैं) पर पीतल के पात्र (अण्डे) कीलों द्वारा जड़ित हैं। मन्दिर के बाहर एक काष्ठ माला (सरोड़ी) लटकी है और इसका अन्दर और बाहर जाने का एक ही द्वार है जिसे विविध चित्रों से सजाया गया है। मन्दिर के भीतर एक देवदारू काष्ठ से निर्मित एक और छोटा-सा मन्दिर है। यह गुम्बदाकार है तथा इसी में शिवलिंग स्थापित है। 'जलहरी' पर रखा यह लिंग 6 इंच ऊंचा तथा 4 इंच परिधि का है तथा वह पत्थर का ही बना है। लिंग वस्त्र आभूषणादि से रहित है। पूजनार्थ आने वाला श्रद्धालु अपना ही 'भाट' साथ लाता है और वही सब पूजन-विधान सम्पन्न कराता है। पूजा तथा बलि कर्म से पूर्व वह कुछ नहीं खाता। सर्वप्रथम वह समीपस्थ झरने में स्नान करता है। तत्पश्चात् ताम्बे के लोटे में पानी भरकर मन्दिर व मूर्ति पर छिड़कता है। स्नान करने के पश्चात् वह स्वच्छ कपड़े पहनता है। मूर्ति की पूजा के समय वह दाएं हाथ में कड़छी पकड़कर उसमें अग्नि के अंगारे और घी तथा पौधों के सुगन्धित पत्ते डालता है और उसका धूप मूर्ति को देता है। बाएं हाथ से घण्टी बजाता रहता है। मूर्ति तथा समीपस्थ भू-भाग को भी पानी से धोता है। पूजा मन्त्रों में वह प्रायः तीर्थों तथा देवताओं के नामों का स्मरण करता है। पूजा समाप्त करने के पश्चात् अन्त में शंख ध्वनि कर फिर मूर्ति को दण्डवत् प्रणाम करता है। इसके अनन्तर यात्री स्नान करने के पश्चात् नए कपड़े धारण कर मूर्ति को नमस्कार करता है। इसके बाद वह आस्थानुसार रती, सोना या चांदी, घी जो छटांक से अधिक नहीं, एक दो पैसे, स्वल्पाकार पात्र (अण्डे) जो ताम्र या जस्ता तथा सीसे के मिश्रण के बने हों, भेंट करता है। उन्हें मन्दिर में लटका दिया जाता है। अब वह बकरा प्रस्तुत करता है। बकरे पर पानी छिड़का जाता है। यदि वह कम्पित हो जाए तो यह समझा जाता है कि देवता ने भेंट स्वीकार कर ली है। इस बकरे का वध करके सिर देवता के प्रतिनिधि पुजारी को तथा शेष पूजन कर्त्ता श्रद्धालु को दे दिया जाता है। कई बार स्वीकृत बलि-अज को छोड़ दिया जाता है और वह 'देवा' कहाने वाले सेवक की सम्पत्ति हो जाता है। देवा' कनैत राजपूत

या भाट होता है।

हिमाचल के अनेक देवताओं की यात्राओं तथा अन्य देवताओं से मिलन की रीति भी प्रचलित है। परन्तु उस मूर्ति को मन्दिर से बाहर निकालना वर्जित है। कई भक्त 'जागा' (रात्रि जागरण-पूजन) भी करते हैं। पिण्डी के आगे रातभर घी की ज्योति जलती रहती है। सायं, मध्यरात्रि तथा उषाकाल में 'श्रीगुल' की पूजा की जाती है और प्रातः पूजा के समय भेंट चढ़ाई जाती है।

सिरमौर जनपद में श्रीगुल के अन्य मन्दिर

श्रीगुल के मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त छोटे-बड़े अन्य सात मन्दिर सिरमौर जनपद के भिन्न-भिन्न स्थानों पर बने हुए हैं। 'श्रीगुल' का माणल स्थित मन्दिर उलगा तथा जोजर नामक देवा लोगों ने बनवाया था। जनश्रुति है कि अपनी मान-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए श्रीगुल ने एक पुतला बनाया। इसे एक चौड़े पात्र में रखा और इसके साथ ही कुछ जलते दीपक रखकर भादों मास में जलल नदी में तैरा दिया। पात्र तैरता हुआ पछाद क्षेत्र के शकोहल ग्राम के निकट पहुंचा। वहां सपेला जातीय एक राजपूत ने इसे कौतुक समझा और उसे चुनौती दी कि यदि तुम कोई दुरात्मा हो तो आगे बह जाओ और यदि देवता हो तो मेरे पास तट पर आ जाओ। पात्र उसके समीप तट पर आ गया। वह उसे अपने ग्राम चनालग में ले आया। उस व्यक्ति को स्वप्न मे देवता ने कहा कि मैं श्रीगुल हूं और राजपूत जो पूजा-पद्धति से अपरिचित हैं, मेरी पूजा अभ्यर्थना नहीं कर सकेंगे। इसलिए मुझे यहां से 'बखूता' ले चलो। तब बिदान नामक एक देवा इसे चुराकर माणल ले आया और वहां मन्दिर बना दिया गया। यहां प 'हरियाली' (आषाढ़ के अन्तिम दिन) पर मेला होता है। दूसरा मेला सावन ं तीन दिन के लिए लगाया जाता है। यह दूसरा मेला समीपस्थ 'नहरा' गांव में लगत है। स्त्री-पुरुष 'गई' नामक पहाड़ी नृत्य करते हैं और परस्पर भुने या उबले गेहूं (मोरा का आदान-प्रदान करते हैं।

'माणल' का मन्दिर वर्गाकार है तथा तीन मंजिलों की ऊंचाई 24 हाथ है ऊपर की मंजिलों में चढ़ने के लिए सीढ़ियां बनी हुई हैं। देवता की सम्पत्ति मध्य वा मंजिल में रहती है। मन्दिर द्वार के बाहर लकड़ी का बरामदा है। इसमें चित्र उत्कीर्ण हैं और सजावट वाली कीलें लगी हैं। इन्हीं पर अण्डाकार धातु-पात्र भी जड़े हैं। सब ऊपर की मंजिल में देवमूर्ति है और छत आदि चूढ़धार के मन्दिर के समान ही है मन्दिर का मुख दक्षिण-पश्चिम की ओर है। मन्दिर में श्रीगुल के 12 विग्रह हैं और स काष्ठ फलकों (गम्बर) पर रखे हैं। मध्य में प्रमुख विग्रह है जो अष्टधातु का बना यह पांच अंगुल ऊंचा तथा दो अंगुल चौड़ा है। इसी मूर्ति को 'बिदान' नामक देवा ला था। मूर्ति रेशमी वस्त्र से अलंकृत है तथा सौ रुपए और ग्यारह मोहरे जड़ा एक व गर्दन पर लपेटे हुए है। दूसरी कोटि के चार विग्रह हैं। ये एक बालिश्त ऊंचे और अंगुल चौड़े हैं। मुख्य मूर्ति के दाएं-बाएं दो-दो विग्रह स्थित हैं। तीसरी कोटि के र

विग्रह दस अंगुल ऊंचे तथा सात अंगुल चौड़े हैं तथा दूसरी कोटि की मूर्तियों का दाएं-बाएं तीन और की संख्या में अवस्थित हैं। अतः विग्रहों का क्रमिक न्यास निम्नवत् है—

3, 3, 3, 2, 2, 2, 2, 2 3, 3, 3

मुख्य विग्रह संख्या एक चांदी की चौकी पर प्रतिष्ठित है और इसके ऊपर छोटा-सा छत्र भी है। इसे पूजनार्थ मन्दिर से बाहर नहीं ले जा सकते। केवल दूसरी कोटि की चार मूर्तियां ही भ्रमणार्थ जा सकती हैं।

'देवण' तथा 'बंदल' के मन्दिर मणाल मन्दिर की भांति ही हैं। प्रत्येक मन्दिर में एक-एक भण्डार है जिसमें पर्याप्त अन्न राशि एवं धन रहता है। भण्डारी इनकी देख-रेख करता है। यहीं से भण्डारी, पुजारी तथा बाजन्त्री वेतन पाते हैं। यात्रियों एवम् साधुओं के अन्न-जल की व्यवस्था पर भी यहीं से खर्च होता है। 'देवा' (सेवक) भी यहीं से अपना जीवन निर्वाह चलाते हैं। इस मन्दिर से द्वितीय श्रेणी के विग्रह को पूजनार्थ श्रद्धालु अपने घर ले जाते हैं और घर में रात्रि-जागरण व पूजन कर सकते हैं। मूर्ति को ताम्बे के सन्दूक में रखकर एक पुजारी नंगे पांव कमर पर उठाए श्रद्धालु के घर प्रायः सांयकाल पहुंचता है। दस-बारह देवा उसके साथ चलते हैं। एक देवा सन्दूक पर चंवर झुलाता रहता है। घर पर गंगाजल से धुले पवित्र स्थान पर मूर्ति को रखा जाता है। मूर्ति के नीचे अन्न का ढेर होता है। सारी रात 'रात जागरण' होता है। प्रातः मूर्ति को भोग लगाया जाता है और इसके बाद मूर्ति को पुनः मन्दिर में लाया जाता है। श्रद्धालु भक्त पुजारी, बाजंत्री, भण्डारी तथा देवा लोगों को नियमित दान-दक्षिणा देता है।

श्रीगुल का एक मन्दिर भोजमस्त के जामण में है। यहां प्रातः सांय दो बार पूजा होती है। पुजारी भाट होता है। मूर्ति पर चढ़े चढ़ावे को पुजारी और बाजंत्री दोनों बांट लेते हैं। यदि अज बलि दी जाए तो पुजारी उसका सिर और बाजंत्री उसकी एक टांग लेता है तथा शेष भक्त को दे दिया जाता है। मन्दिर पर्वत क्षेत्र के साधारण दो मंजिला घरों की तरह है। देवता की प्रतिष्ठा ऊपरी कोष्ठ में की गई है और द्वार पश्चिम की ओर है। निचले कोष्ठ का द्वार पूर्व की ओर है तथा इसी ओर पन्द्रह फुट लम्बा और दस फुट चौड़ा आंगन है। जामण, पोमार, चावग तथा थाना के प्राचीन मुखिया चूढ़धार से एक शिला लाए थे तथा रोगों के त्राण हेतु यह मन्दिर बनवाया था। स्थापित मूर्ति के लिए पालसी, छत्र, सिंहासन, तथा अमृती (पात्र) मन्दिर में रखे रहते हैं। एक से पांच बैसाख तक 'बीशू' मेला लगता है जिसमें स्त्री-पुरुष सभी भाग लेते हैं। इस नृत्य में संगीत तथा 'ठोडा' नामक छद्म युद्ध होता है जिसमें धनुष-बाण व्यवहृत होते हैं।

पांवटा नगर में तो श्रीगुल का कोई मन्दिर नहीं है। परन्तु ग्रामों में उसके कई मन्दिर हैं। इनमें पत्थर की या सीसें की मिश्र धातु की या ताम्बे की मूर्तियां स्थापित हैं। मन्दिरो में शंख, घड़ियाल बजाकर श्रीगुल की पूजा की जाती है। उसकी मूर्तियों पर फूल, पत्ते एवं जल चढ़ाया जाता है। नाहन के नाउनी ग्राम में भी श्रीगुल का एक मन्दिर है। यहां हरियाली पर या प्रथम श्रवण को मेला होता है। बकरा, हलवा, घी

देवथली' नाम से 'श्रीगुल' का मन्दिर संगलाहण में भी है। यहां पर पुजारी ब्राह्मण होता है तथा पूजा-विधान ज्वालामुखी जैसा ही है। अज बलि का प्रचलन नहीं है, केवल मूर्ति पर हलवा का ही भोग लगाया जाता है। 'ग्यास' दिन अर्थात् कार्तिक सुदी एकादशी को तथा तीस कार्तिक को मेला होता है। पुरुष तथा वृद्धा स्त्रियां ही मेले में सम्मिलित होते हैं। कन्याएं इसमें भाग नहीं ले सकती।

जुब्बल जनपद में श्रीगुलआस्था

चूढ़धार से उत्तर पूर्व की ओर स्थित जुब्बल जनपद में 'श्रीगुल' की एक और ही कथा प्रचलित है। कहा जाता है कि द्वापर युग में कृष्ण स्वयं इस क्षेत्र में आए थे और यहां पर उन्होंने बहुत से राक्षसों का नाश किया था। कुछ राक्षसों ने श्री कृष्ण से क्षमा मांगी तथा श्रीकृष्ण ने मनुष्यों व देवताओं को तंग न करने का आदेश देकर उन्हें कहा कि वे उत्तरी पहाड़ियों में वास करें। सभी ने उनकी आज्ञा को मान लिया। केवल एक राक्षस श्रीकृष्ण की आज्ञा की अवहेलना करके चूढ़धार से सात मील उत्तर की ओर 'चौखट' में रहने लगा। कलियुग के आरम्भ में उसने मनुष्यों व पशुओं को त्रस्त करना आरम्भ कर दिया। एक अन्य 'निशिरा' दैत्य भी शाड़गा के राणा भोकड़ू की प्रजा को लूटने लगा। यह शाड़गा तथा भोकड़ू वाले रूपान्तर से भिन्न है। शाया और शाड़गा एक ही ग्राम के नाम हैं। चौखट वाले असुर ने तो जुब्बल, तरोच, बालसन, ठियोग आदि रियासतों पर आक्रमण शुरू कर दिए।

भोकड़ू को भी अपना राज्य देवीराम नामक मन्त्री को सौंपकर काश्मीर की ओर पलायन करना पड़ा और रानी सहित काश्मीर चला गया। वहां पर उसने बारह वर्षों तक घोर तपस्या की। तब आकाशवाणी हुई कि भोकड़ू स्वदेश लौट जाए और अश्वमेघ यज्ञ करे। उसके बाद उसे दो पुत्र प्राप्त होंगे जो राक्षसों को समाप्त कर देंगे। दस मास के बाद भोकड़ू के यहां पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम 'श्रीगुल' रखा गया। दो वर्ष बाद जन्मे दूसरे पुत्र का नाम चण्डेश्वर रखा गया। समय के साथ राजा के जीवन की संध्या भी आ रही थी, अतः जब उसके लड़के बारह और साढ़े नौ वर्ष के हुए तो राजा ने तीर्थाटन पर जाना चाहा। वह हरिद्वार गया। जब वह अपनी पत्नी के साथ वापस आ रहा था तो मार्ग में ही बीमार पड़ गया और उसका निधन हो गया। पति के वियोग को उसकी पत्नी सहन न कर सकी और पति की मृत्यु के तीन दिन के पश्चात् वह भी पति की अनुगामिनी हुई। श्रीगुल माता-पिता की अस्थियों का विसर्जन करने के लिए हरिद्वार को चला तो वह चूढ़धार से होकर निकला। चूढ़धार का स्थान उसे अति मनोरम और सुन्दर लगा। उसने निश्चय कर लिया कि लौटकर राज्य तो छोटे-भाई को सौंप दूंगा और स्वयं यहीं आकर निवास करूंगा। हरिद्वार से लौटते हुए जब 'श्रीगुल' पुनः चूढ़धार पर पहुंचा तो देखा कि यहां एक व्यक्ति 'चूढ़ू' नाम का पूजा कर रहा है। उसने श्रीगुल को बताया कि यही शिव का वास स्थान है और शिवजी ने मुझे

ही यहां पूजा करने का आदेश दिया है। श्रीगुल ने चूढ़ू से कहा कि तुम यहीं रुकना, मैं भी तुम्हारे साथ ही रहा करूंगा।

शांगड़ा जाकर श्रीगुल ने अपना राज्य छोटे भाई को देना चाहा, परन्तु उसके मन्त्रियों ने आपत्ति की और कहा—"उसे राज्य का एक भाग दो, पूरा राज्य देने से प्रजा में असंतोष फैल सकता है। मन्त्रियों के सुझाव पर श्री गुल ने अपने राज्य का आधा भाग अपने छोटे भाई चण्डेश्वर को दे दिया और अपने राज्य के कार्यभार का संचालन मंत्री देवीराम को सौंप दिया। इसके बाद वह दिल्ली पहुंचा और एक भाबड़े के घर ठहरा। उस समय मुसलमानों का राज था। एक दिन श्रीगुल प्रातः यमुना नदी में स्नान करने के लिए जा रहा था, तो रास्ते में उसने देखा कि एक कसाई वध के लिए एक गाय को ले जा रहा है। उसने कसाई को रोका, दोनों में झगड़ा हो गया और श्रीगुल ने कसाई के दो टुकड़े कर दिए। परन्तु उसने गाय को बचा लिया। जब मुगल सम्राट् को इस घटना की सूचना मिली तो उसने श्रीगुल को पकड़ने के लिए अपने सैनिक भेजे, जिन्हें श्रीगुल ने मार गिराया। अन्ततः मुगल सम्राट् इतने वीर पुरुष को देखने के लिए स्वयं आया। देखते ही सम्राट् ने श्रीगुल के पैर चूमे तथा वचन दिया कि भविष्य में किसी भी हिन्दू की उपस्थिति में गो वध नहीं किया जाएगा। वह भाबड़े की दुकान की ओर चलने ही वाला था कि इतने में उसे चूढ़ू का सन्देश मिला कि एक दानव चूढ़धार को अपवित्र करने वाला है जिससे कि यह धरती देवताओं की निवास स्थली न बन सके। यह दुःखद समाचार सुनते ही श्रीगुल ने एक घोड़ा बनाया और द्रुतगति से वह चूढ़धार की ओर निकल पड़ा। सायं तक वह जगाधरी (हरियाणा) के समीपस्थ 'बूढ़िया' ग्राम में पहुंच गया। अगले दिन दोपहर तक नाहन और सायंकाल तक अपनी राजधानी में पहुंच गया। अगले दिन प्रातः ही भौलखड़ी होता हुआ चूढ़धार पर जा पहुंचा। वहां पहुंचकर उसने अपनी तलवार एक पत्थर पर रगड़कर तेज की। इसके चिन्ह अभी भी उस मन्दिर पर विद्यमान हैं। उसने वहां दैत्य के कुकृत्यों का वृत्तान्त भी सुना। दूसरे दिन दैत्य एक गाय की पूंछ लेकर चूढ़धार को अपवित्र करने के लिए आया। श्रीगुल ने उसे बहुत दूर से आते देख लिया और एक पत्थर मारकर उसे वहीं मार दिया। पत्थर ऊर्ध्वाधर स्थिति में गिरा और आज भी औरीपोटली नाम से पहचाना जाता है तथा चूढ़धार शिखर से आठ मील दूरी पर है। दैत्य के मरणोपरान्त उसकी सेना ने आक्रमण किया। परन्तु श्रीगुल ने उसकी सेना के सभी सैनिकों को मार डाला। इसके पश्चात उसने चूढ़ू को कहा—"निवास स्थान बनाने के लिए उपयुक्त स्थान का चयन करो।" चूढ़ू चोटी और काला बाग के बीच एक स्थान का चयन किया गया। तदनन्तर श्रीगुल ने देवीराम तथा उसके दोनों पुत्रों को बुलाया और अपना राज्य तीनों में बांट दिया। उन तीनों ने श्रीगुल की आज्ञानुसार नियत स्थान पर श्रीगुल का मन्दिर बनवाया। देवीराम की मृत्यु के बाद उसका भाग उसकी दूसरी पत्नी से उत्पन्न तीसरे पुत्र को दे दिया गया। श्रीगुल ने उन तीनों को आदेश दिया कि मेरे अन्तर्धान होने पर तुम तीनों अपनी-अपनी राजधानियों में मेरे और चूढ़ू के मन्दिर बनवाना। उसने यह भी व्यवस्था दी कि वे और

उनके उत्तरोत्तर वंशज जहां भी जाएं, मेरी मूर्ति साथ लेकर जाएं। एक सौ पचास वर्ष राज्य करने के पश्चात श्रीगुल लुप्त हो गया और उसके साथ चूढ़ू भी।

दो शताब्दी के बाद जब देवीराम के पुत्रों—रब्नू और चीनू के वंशजों की संख्या बढ़ गई तो उनमें से कुछ मणाल को चले गए और वहां पर उन्होंने श्रीगुल का मन्दिर बनाया जिसके लिए सिरमौर नरेश ने परगने की आधी भूमि दी थी। चीनू के वंशजों में से कुछ देवण जा बसे और वहां भी उन्होंने श्रीगुल का मन्दिर बनाया। पुरानी राजधानियों अर्थात जोरना, सराहन, शाड़गा और देवण में आज भी प्रत्येक घर से एक पाठा (दो सेर अन्न से भरने वाला पात्र) अन्न लिया जाता है। यह दान ढियाकरा कहाता है तथा जो इसे देने से इनकार करता है, देव का कोप भाजन बनता है और हानि उठाता है।

अन्य पहाड़ी देवताओं की भांति श्रीगुल के भी न्यायिक अधिकार हैं। जो भी उसके राज्य में अपराध करता है, उसे देवता को हरिद्वार ले जाकर स्नान कराना पड़ता है। इसके मन्दिर में शपथ के आधार पर भी न्याय होता है और झूठी शपथ खाने वाला छह मास में ही दैवी आपदा द्वारा दण्डित हो जाता है।

शिमला जनपद में जुनगा-आस्था

स्वतन्त्रता से पूर्व शिमला जनपद में छोटी-बड़ी अनेक रियासतें थीं। वहां पर राजा, रजवाड़े, करदाताओं आदि का वर्चस्व रहा है। प्रत्येक रियासत का अपना-अपना कुल-देवता और अपनी पूजास्पद देवी पर अटूट और दृढ़ विश्वास होता था। 'मनुस्मृति' में राजा में सब देवताओं का आधान माना गया है—सर्वदेवमयो नृपः। इसी आधार पर शिमला जनपद में प्रमुख देवता को 'राजा देवता' कहा जाता होगा। क्योंथल रियासत में राजा ही देवता के रूप में पूजनीय था। वहां पर राजा और देवता का एकीकरण इस सीमा तक हुआ कि देवता राजा कहलाने लगे और राजा देवता। जिन्हें हम आज देवी या देवता कहते हैं, वे किसी युग में अन्य लोगों की भांति साधारण मनुष्य थे। अन्तर केवल इतना था कि साधारण मनुष्यों की भांति उनमें अधिक बल, शक्ति और तप था। अपनी दैवी शक्तियों के कारण ही वे अपने समाज में साधारण मनुष्यों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते थे और दूसरे व्यक्ति उनका आदर और सम्मान करते थे। इन देवताओं का अपना प्रभाव और अधिकार क्षेत्र होता था और अपना अधिकार-क्षेत्र बढ़ाने के लिए वे एक-दूसरे पर चढ़ाई व लड़ाई भी किया करते थे। राजा के अभिवादन के लिए 'जयतु देवः' अर्थात् 'जयदेवा (जयदेआ) शब्द स्पष्टतः इसका प्रमाण है। उसके स्वागतार्थ देवता की धार्मिक छड़ी, चंवर, छत्र और वाद्य-यन्त्र प्रयुक्त होते रहे हैं। शिमला जनपद में 'जुनगा' का अधिक प्रभाव रहा है। जुनगा एक युवराज था किन्तु कालान्तर में दैवी गुणों को अपने में समाविष्ट करने पर वह देवत्व को प्राप्त हो गया था। वह क्योंथल के राज-परिवार का देवता नहीं है क्योंकि वे तारादेवी के उपासक हैं जिस पर उनकी आस्था सिद्ध योगी तारानाथ के समय से ही है। किन्तु वहां के जनमानस में जुनगा पर गहरी आस्था है। जुनगा के 22 टिक्के (युवराज) हुए, उनके नाम पर आगे चलकर 22 परगणों का निर्माण हुआ। उनकी पूजा भी 'जुनगा' की भांति की जाती रही है।

जुनगा कुटलैहड़ के राजा का राजकुमार

जनश्रुति है कि कुटलैहड़ के राजा के दो राजकुमार नादौन में रहते थे। बड़े राजकुमार के राज्याभिषेक के समय छोटे भाई ने झगड़ा किया तदनन्तर राजा ने उसे

पने राज्य से निष्कासित कर दिया। कतिपय साथियों के साथ वह शिमला पहाड़ियों ी ओर चल पड़ा और पहुंचते-पहुंचते 'जारबू' जा पहुंचा। वहां से वे आगे चलकर छोटी राज' की ओर जा निकले और 'थगवा' में समतल स्थान पर आवास योग्य भूमि ा चयन किया। यह सभी कार्य सेवकों-सहचरों ने किया।

एक दिन प्रातः ही राजकुमार पालकी में बैठकर थगवा को चल पड़ा परन्तु ब वे संजोली पहुंचे तो साथियों ने राजकुमार को अदृश्य पाया। सहचरों ने समझा कि ाजकुमार कोई देवता बन गया है और वे सभी थगवा में उसकी खोज करते रहे, परन्तु उसे ढूंढ़ने में असफल रहे। फिर भी राजकुमार के साथी वहीं पर बस गए और उन्हीं ोगों के घरों में नौकरी-चाकरी करने लग पड़े। एक रात एक व्यक्ति अपनी फसल की रखवाली करने खेत में गया। जब वह एक वृक्ष (कीमू) के नीचे आराम करने लगा, तभी अचानक उसे कीमू वृक्ष में से आती हुई जोर की आवाज सुनाई दी—"हाय मैं गिरा, हाय मैं गिरा।" भयाक्रान्त वह घर दौड़ आया और अगली प्रातः सभी को रात में घटी घटना को सुनाया। एक अनुभवी व्यक्ति ने इस घटना की जांच का दायित्व सम्भाला। उसने रात को कीमू वृक्ष के चबूतरे पर रेशमी कपड़ा बिछा दिया। स्वयं थोड़ी दूरी पर जाकर बैठ गया। जब आधी रात गुजर गई तो उसे भी वही आवाज सुनाई दी। उसने झट से कहा, "नीचे उतर आओ।" इतना कहते ही वृक्ष बीचों-बीच दोफाड़ हो गया और एक सुन्दर प्रतिमा रेशमी कपड़े पर आ गिरी। वह व्यक्ति इसे घर लाया और घर की ऊपरी मंजिल में रख दिया। परन्तु प्रतिमा निचली मंजिल में आ गई। इसी घटना का क्रम कई दिनों तक चलता रहा। अन्ततः उस व्यक्ति ने ज्योतिषियों को बुलाया। उन्होंने घटना स्थल पर पहुंचकर निर्णय दिया कि यह कोई देवता है और अपने लिए अलग से मन्दिर चाहता है। लोगों ने इसके पश्चात् उसकी पूजा आरम्भ कर दी और वहां एक चेला भी नियुक्त कर दिया। चेले के माध्यम से देवता ने बताया कि अपने मन्दिर के लिए भूमि का चयन स्वयं करूंगा। देवता को उस समस्त क्षेत्र में घुमाया गया। जब नादौन वाले साथियों को इस बात का पता चला तो वे भी उस अपार जनसमूह में आ मिले। देवता ने एकत्र लोगों को आज्ञा दी कि वे क्रमेण, नैन, बोजारी, ठोंड और कोटी में मन्दिरों का निर्माण करवायें। फिर जिस गांव में वह जाए, वहां पर भी मन्दिर का निर्माण करवाया जाए। अन्त में वह नादौन पहुंचा। वहां के राजा ने उसके लिए कोई भी मन्दिर बनवाने से इनकार कर दिया क्योंकि उनका अपना देवता 'जीपुर' था। जुनगा ने कहा कि जीपुर से मैं निपट लूंगा। अभी विवाद चल ही रहा था कि जुनगा ने 'जीपुर', उसके मन्दिर और उससे सम्बन्धित वस्तुओं को तड़ित द्वारा नष्ट कर दिया। इसके पश्चात् नादौन के राजा ने भी उसे (जुनगा) अपना कुल देवता मान लिया और अपने दरबार के कक्ष में उसका भी मन्दिर बनवा दिया।

क्योंथल में 'जीपुर' की पूजा नहीं होती। क्योंथल के समस्त क्षेत्र में जुनगा की पूजा होती है। 'जीपुर' का कोई इतिहास प्राप्त नहीं है। केवल इतना ही ज्ञात है कि वह क्योंथल के राज-परिवार के साथ ही आया था। अनुमानतः वह कोई 'जठेरा' रहा होगा।

जुनगा का एक मन्दिर पजारली में भी है और यज्ञ के अवसर पर वहां के लोग उसे ले आते हैं। अन्य अवसरों पर वहां स्थापित मूर्तियों की पूजा का प्रावधान है। पूजा-विधान शिवालयों के समान ही है। यहां कोई बलि नहीं चढ़ाई जाती।

जुनगा के टिक्के

जुनगा के 22 टिक्के (पुत्र) थे। इनके अपने-अपने मन्दिर भिन्न-भिन्न स्थानों पर हैं। बिना जुनगा की आज्ञा तथा बिना उसका देय देने के कोई भी टिक्का यज्ञ नहीं कर सकता। इस प्रकार जुनगा ही वास्तविक देवता है तथा अन्य उसके पुत्र।

क्योंथल की राजधानी का नामकरण

शिमला की पहाड़ी रियासतों में क्योंथल का अपना विशिष्ट स्थान था। इसकी राजधानी का नामकरण भी जुनगा के नाम पर हुआ है। क्योंथल के अधीन पांच कर-दामी रियासतें—कोठी, ठियोग, मधान, गुंड और रतेश भी थीं। कुछ फुटकल क्षेत्र भी है। इसके दक्षिण में फागू, खलाशी, तीर महासू, धरोच, रतेश, करोली, जाई, पराली, झजोट और कलांज आदि दस परगणे थे। उत्तर में शिली मस्याना, रजाना, मतियाना (फागू) आदि। परगणा रामी और परगणा पुन्नर, परगणा रामपुर-बाकना आदि भी क्योंथल रियासत में आते थे। मालगुजारी के प्रबन्ध के लिए रियासत को तीन तहसीलों में विभाजित किया गया था। परन्तु इससे पूर्व वह 22 परगणों में बंटी थी और 22 ही टिक्के (जुनगा पुत्र) उनके पूजनीय थे। जुनगा के 22 टिक्कों के नाम इस प्रकार से हैं—कलोड़, मनूणी, कनैती, देवचन्द, रानेती, महांफा, नीरू, खटेश्वर, चदेई, रानेई (जो), बूड़ू, कुलथी, दाणु, दूम, रैंता, चानना, गौणा, बीजू, कुशेली देव, बालदेव, खालदेव और कवाली देव।

कलोड़ की परम्परा

लोक कथानुसार कुल्लू से भागकर एक ब्राह्मण रतेश परगणा के ग्राम दावस में आ बसा। वहां एक कनैत स्त्री उसकी शत्रु बन गई और उस स्त्री ने उसके भोजन में विष मिला दिया। ब्राह्मण को संदेह हो गया और वह डोरा जंगल में पानी के पास बंधा पानी स्थान पर चला गया। वह मरने के लिए उस स्थान पर गया था। उसे यह निश्चय हो गया था कि वह औरत उसे किसी न किसी दिन मौत के घाट उतार ही देगी। अतः वह उस स्त्री को अनेक शाप देकर दिवंगत हुआ। जहां उसका निधन हुआ वहां निकट ही 'धढ़ाल की धार' में एक बाखल का वृक्ष था। एक दिन गढ़ा बाब के एक ब्राह्मण ने देखा कि उस क्षेत्र की सभी गाएं उस बाखल वृक्ष को अपने दूध से सींच रही हैं। उसने एक कस्सी लेकर वृक्ष की जड़ों को खोद डाला। उसे जड़ों के नीचे एक सुन्दर प्रतिमा मिली जिसे वह अपने घर ले आया। मूर्ति पर अभी भी कस्सी टकराने का चिन्ह विद्यमान है। उसने घर आकर प्रतिमा मिलने का समाचार सभी ग्रामवासियों को कह सुनाया। लोगों

ने प्रतिमा के लिए एक भव्य मन्दिर का निर्माण कर उसमें उसे प्रतिष्ठापित कर दिया और उसी ब्राह्मण को वहां का पुजारी नियुक्त किया। परन्तु मृत ब्राह्मण से रूप साम्य रखने वाली इस प्रतिमा ने ग्रामीणों पर विपत्तियां लानी आरम्भ कर दीं ? विशेषतः कनैत परिवार नष्ट होने लगे।

ग्रामीणों ने निर्णय किया कि मूर्ति के रोष से बचने के लिए किसी शक्तिशाली देवता या देवी को लाया जाए। ढेली और चंढी परगणा भर में दो साहसी कनैत थे। उन्हें भेष बदलवाकर फकीर के रूप में सिरमौर के 'लाबी' और 'पालवी' ग्रामों में भेजा गया और वे वहां से अष्टभुजी देवी को प्रतिमा चुराकर 'रतेश' परगणा के ढावर ग्राम में ले आए। जनता ने नाचते, गाते, ढोल बजाते तथा आगन्तुक देवी के लिए भेंट सहित उनका स्वागत किया। उस मूर्ति को वे, ... ले गए और वहीं उसका मन्दिर भी बना दिया। लोगों ने अब 'कलौड़' की पूजा बन्द कर दी। इसके पश्चात् उन पर आने वाली विपत्तियां भी समाप्त हो गईं। केवल 'चरज' ग्राम के वासी 'कलौड़' की पूजा करते थे।

मनूणी की परम्परा

मनूणी को महादेव भी कहते हैं और 'मनूण' पहाड़ी पर पहली मूर्ति स्थापित होने के कारण मनूणी नाम भी चल पड़ा है। लोक धारणा है कि पटियाला रियासत के पार्वत्य प्रदेश में 'जमरोट' परगना में पराली नामक ग्राम में एक ब्राह्मण रहता था। एक दिन वह ब्राह्मण देवीधार ग्राम के पुजारी के साथ नमक खरीदने मण्डी गया। वापसी पर मार्ग में वे सुकेत रियासत में 'महूं' में 'महूं नाग' के मन्दिर में रात गुजारने के लिए ठहर गए। ब्राह्मण, पुजारी तथा अन्य उच्च जातीय लोग तो मन्दिर के भीतर सोए, पर निम्न जाति वाले मन्दिर के बाहर ही सोए। पुजारी उस समय के पूरे क्योंथल में प्रसिद्ध देवता 'धखू' का चेला था। प्रातः जब वे वहां से जाने लगे तो मधुमक्खियों के झुण्डों के झुण्ड ब्राह्मण और पुजारी के सामान पर बैठ गए और किसी प्रकार भी टाले न टलें। वे मधुमक्खियों सहित ही सामान उठाकर चल पड़े। जब वे सभी सहयात्री 'मुंडा' में पहुंचे तो हनुमान मन्दिर के पास मधुमक्खियों ने उनका पीछा करना छोड़ दिया और एक 'बाण' के वृक्ष पर जा बैठीं। उसी समय और वहीं पर पुजारी मूर्छित हो गया तथा उसके सहयोगी बड़ी कठिनाई से उसे उठाकर घर ले गए। क्षेत्र के जानकारों ने कहा कि कोई देवता पुजारी के साथ आया है और वह इस क्षेत्र में अपना मन्दिर चाहता है, जब तक मन्दिर नहीं बनेगा, पुजारी की दशा यथावत ही रहेगी। इसी दौरान चेला आविर्भूत हो उठा और बोला कि "मैं देवता हूं, सभी उपस्थित जन मेरे प्रति आस्था रखें अन्यथा उन्हें कष्ट झेलने पड़ेंगे।" उसके कहने पर लोग बोल उठे कि "हम तो कई पीढ़ियों से 'धरतू' देव को मानते आए हैं, यदि आप उन पर विजय प्राप्त कर लें, तो हमें आप पर श्रद्धा रखने में कोई भी आपत्ति नहीं होगी।

उसी समय आकाश से बिजली गिरी और 'धरतू' के मन्दिर, मूर्तियां तथा अन्य सभी वस्तुएं नष्ट कर दीं। मात्र एक मूर्ति 'धरतू' की शेष बची, जो उस समय एक गुफा

में जलमग्न पड़ी थी। तदुपरान्त पुजारी लोगों को 'मुण्डा' स्थान पर ले गया जहां सभी मधुमक्खियां बैठ गईं थीं। उसने लोगों को परामर्श दिया कि जहां चीटियां मिलें वहीं मन्दिर बना दिया जाए। 'मनूण' पहाड़ी पर एक समतल स्थान पर चीटियां दिखाई पड़ीं तथा वहीं पर मन्दिर-निर्माण शुरू हो गया। मन्दिर पूरा होने वाला था कि उसकी छत का एक फट्टा उड़कर 'परालो' ग्राम में जा पड़ा। पुजारी का कहना था कि देवता यहां भी अपना मन्दिर चाहता है। आखिर 'पराली' के ब्राह्मण के साथ भी तो देवता आया था। तदनुसार एक और मन्दिर बनाया गया और उसी मूर्ति की स्थापना वहां पर भी कर दी गई। कालान्तर में मनूण वाला मन्दिर भी पूरा कर लिया गया तथा समयान्तर में तो तीसरा मन्दिर कोटीधार' में भी बना। 'मनूण' के प्रति आस्था पटियाला क्षेत्र के 'नाला तक और भज्जी राज्य तक फैली और अनेक मन्दिर बने। पराली के ब्राह्मणों को भोजकी और कोटीधार के पुजारियों को इन मन्दिरों में पुजारी नियुक्त किया गया।

धरतू की जलमग्न पिण्डी वहीं पड़ी रही। ग्राम का केवल एक व्यक्ति उसे रोट चढ़ाता था और बदले में धरतू उसे अतिथि-सत्कार या उत्सव आदि के लिए बर्तन उधार दे देता था। प्रयोग के बाद पूरे बर्तन लौटा दिए जाते थे। एक बार उस आदमी ने चालीस बर्तन उधार लिए परन्तु लौटाए केवल पैंतीस। इसके बाद धरतू के सभी क्रिया-कलाप बन्द हो गए।

मनूणी के मन्दिर में 'टुंडा' नामक 'वीर' भी है। टुंडा पराली में एक गुफा में घराट में रहता था। यदि कोई रात को अकेला घराट पर जाता तो टुंडा उसे मूर्छित कर देता और यदि उसका समुचित इलाज न होता तो वह व्यक्ति प्रातः मृत मिलता था। एक रात मलूणी का पुजारी घराट पर गया। उसने अपने इष्ट देवता की सहायता से टुंडा की मूर्च्छित करने की शक्ति का निराकरण ही नहीं किया अपितु उसे घराट की शिला के नीचे कील दिया। अब तो टुंडा वीर अनुनय करने लगा कि "मेरा जीवन बचाओ, मैं सब प्रकार से आपकी सेवा करूंगा।" पुजारी ने कहा—"तुम कल मन्दिर में आओ। यदि तुम लोगों को दुःखी करना त्याग दोगे तो तुम्हारी भी पूजा होगी।" टुण्डा सहमत हो गया, उसे मनूणी के मन्दिर में उचित स्थान मिला और अब तो वह उसका वजीर बन गया है।

कनैनी की परम्परा

पारम्परिक श्रुति के अनुसार महाभारत के बाद जब पाण्डव बद्रीनाथ की यात्रा पर जा रहे थे तो मार्ग में उन्होंने अनेक मन्दिर बनाए तथा उनमें मूर्तियां प्रतिष्ठापित कीं। उन्होंने गढ़वाल और बुशैहर की सीमा पर 'कतार' में कनैती का मन्दिर बनाया। इस मन्दिर की परिधि पांच ग्रामों तक है। इसके नाम पाण्डवों के नाम पर ही हैं। 'ढोढरा-कवार' इन्हीं ग्रामों में से हैं। ढोढरा ग्रामवासी अपना अलग मन्दिर बनाना चाहते थे परन्तु 'कवार' के गांव वालों को इस पर आपत्ति थी और इसी बात को लेकर दोनों में शत्रुता पैदा हो गई। ढोढरा वाले 'कतार' के मन्दिर में से एक प्रतिमा

चुरा लाए, परन्तु यह अदृश्य हो गई और कालान्तर में वह एक गुफा में मिली। इसने चेले के माध्यम से बताया कि मैं 'डोढरा' मन्दिर में नहीं रहना चाहता और लोगों को उसके साथ अन्यत्र जाना होगा। इसलिए कोली कनैत और तूरी लोगों के एक समूह ने देवता के साथ यात्रा की तथा वे क्योंथल में 'डगू' स्थान पर 'जीपुर' के मन्दिर में पहुंचे। वह यहां के राज परिवार का कुल देवता था। नए देवता ने 'जीपुर' के मन्दिर को वज्रपात से नष्ट कर उस स्थान पर अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार कनैती की परम्परा वहां फूलने-फलने लगी। क्योंथल के वजीर ऐन्छा ब्राह्मण ने मनौती मानी कि यदि उसका परिवार बढ़ जाए तो वह 'जीपुर' को त्याग कनैती की पूजा करेगा। इसी प्रकार भलेर कुल ने भी 'जीपुर' की पूजा छोड़ कनैती की पूजा की और शौर्य कमाया।

देवचन्द की परम्परा

कनैतों के खानोगो कुल का मुखिया देवचन्द कभी क्योंथल का वजीर था। जुनगा के पुजारियों से अनुमति लेकर उसने एक यज्ञ का आयोजन किया। परन्तु निश्चित दिन पुजारियों ने मूर्ति देने से इनकार कर दिया। देवचन्द ने लुहार से एक मूर्ति बनवाकर 'जुनगा' के अधीनस्थ के रूप में स्थापित कर अपना यज्ञ सम्पन्न किया। मूर्ति का नाम देवचन्द रखा और उसे जुंगा के अधीन माना गया। परन्तु इसका प्रबन्ध आदि मुख्य देवता से अलग ही था।

शंनेती की परम्परा

कनैतों की दो जातियां—पंनोई और शंनेती हैं। एक बार किसी बात पर दोनों में विवाद उत्पन्न हो गया। विवाद का मुख्य कारण संभवतः पुजारी थे। 'शंनेती' जाति के लोगों ने अपने अलग देवता की स्थापना कर ली। यह भी जुनगा के आधीन है और शंनेती के नाम से जाना जाता है जाटिल परगणा के चिमड़ कनैतों ने जुनगा की एक मूर्ति उधार ली और इसे पृथक् मन्दिर 'महांफा' नाम से स्थापित किया।

तीरू की परम्परा

तीरू जातक लोगों का प्रमुख देवता है। यह 'लोग' ब्राह्मण राजा के पास व ही एक अनुभाग है। कहते हैं कि एक बार तीरू ब्राह्मण राजा के पास फरियाद लेकर गया, पर राजा ने उसके साथ अभद्र व्यवहार किया। ब्राह्मण ने वहीं पर अपना सिर काट डाला। उसका सिर कुछ समय के लिए तो नाचता रहा, फिर शान्त हो गया। ब्राह्मणों ने वहां तीरू की प्रतिमा स्थापित की और उसकी देवता की भांति पूजा करने लगे और उसे जातक ब्राह्मणों का 'जठेरा' कहा जाने लगा।

खटेश्वर की परम्परा

भाखड़ ग्राम के ब्राह्मणों ने जुनगा की प्रतिमा मांग कर ली और कोठी में उस

लिए एक सुन्दर मन्दिर का निर्माण करवाया। इसी से 'कोटीश्वर' और फिर उसका नाम 'खटेश्वर' चल पड़ा। इसी प्रकार कनैतों के नावाबां कुल ने रतेश से एक जुनगा प्रतिमा लाकर चड़ोई ग्राम में उसकी प्रतिमा प्रतिष्ठा कर दी और इसी आधार पर उसका नाम चढ़ेई पड़ गया।

शनेई-जौ की परम्परा

अपने जन्मोपरान्त जुनगा ने समस्त क्योंथल रियासत का भ्रमण किया था और शनेई और जौ में अपने मन्दिर बनाने का आदेश दिया था। 'जौ' शनेई के अधीन है और शनेई जुनगा के। ये दोनों मन्दिर कोटी गांव में स्थित हैं।

धूड़ू की परम्परा

'जाई' परगणा में धूड़ू का बहुत प्राचीन मन्दिर था। सभी जमींदार जो 'धूड़ू' की पूजा करते थे, निपूते ही मरते थे। यह देवता भी जुनगा के अधीन है। कनैतों के चिभड़ कुल में 'कुलथी' देवता की पूजा की जाती है और इसका मन्दिर 'कवालथ' ग्राम में है। गांव के नाम पर ही इस देवता का नाम 'कुलथी' चल पड़ा।

दाणू की परम्परा

जुंगा क्षेत्र में 'दाणू' वायु में उड़ता हुआ आया था। पहले वह शिमला में 'जारठू' स्थान पर उतरा फिर ठियोग में। ठियोग में वह धान के एक पौधे के नीचे छिप गया। यह आश्चर्य ही था कि किसान ने धान का सारा खेत काट दिया, पर वह पौधा छोड़ दिया। खेत के खाली होने पर पशु वहां चरने लगे। सभी पशु (दुधारू) उस पौधे के निकट एकत्र हो जाते और एक सर्प आकर दूध पी जाता। लोग ग्वालिन पर शंका करते। परन्तु एक दिन एक आदमी ने वहां पर पहरा दिया और दूर झाड़ियों में छिप कर देखता रहा। सब कुछ जान कर ग्वालिन क्रोधाभिभूत हो उठी और दराती से धान के पौधे को समूल उखाड़ने लगी। उसके नीचे से दो भव्य मूर्तियां निकलीं। दराती की चोट के चिन्ह दोनों मूर्तियों पर थे। बड़ी मूर्ति को लोग धानू (राजा) मानते हैं और छोटे को 'दाणू' वजीर। दाणु से अभिप्राय अत्याचारी भी है। यही सर्प रूप में दूध पीता था।

दोनों के उक्त क्षेत्र में मन्दिर बना दिए गए। परन्तु उन्होंने लोगों को उत्पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। वे रोज मानव बलि मांगने लगे। लोग प्रति परिवार बारी-बारी से उनकी मांग पूरी करते। इस अत्याचार से पीड़ित लोगों ने 'भरोलू' कुल के एक विद्वान् ब्राह्मण को बुलाया और सहायता मांगी। उसने देवता को मना लिया कि पहले तो वह प्रति मास बलि ले, फिर दो मास के बाद और फिर साल में एक बार। उसके बाद अज-बलि से संतोष करे। ब्राह्मण के वंशज अभी भी मन्दिर के पुजारी और ग्राम के पुरोहित हैं।

दूम की परम्परा

दूम का मन्दिर फाल्गू तहसील के ग्राम कातियां में है, पर दूम देवता पांच या दस वर्ष बाद क्योंथल, कुठार, महलोग, बुशैहर, कोटखाई, जुब्बल, खनार, बाघल और कोटी आदि जनपदों में भ्रमण करने जाता है। ऐसा लोगों का विश्वास है। कहते हैं कि सम्वत् 1150 में वह देहली भी गया था। उस समय वहां तंवर राजपूतों का राज था। चौहान राजपूतों से पराजित होकर बहुत से तंवर पहाड़ों में भाग आए थे और यहां आकर दूम देवता की पूजा करने लग पड़े थे। दूम एक शक्तिशाली देवता है। उसके भण्डार में बहुत सोना-चांदी था। 'रैता' का मन्दिर पराली में है। 'चानना' डोली ब्राह्मणों का देवता है। 'गौण' देवता की मूर्ति की स्थापना रावल जातीय लोगों ने की थी।

बीजू की परम्परा

आरम्भ में तो 'बीजू' विजात देवता के अधीनस्थ था। परन्तु क्योंथल रियासत में आने के कारण वह भी जुंगा का ही अनुचर बन गया। इसका पूरा नाम 'बिजलेश्वर महादेव' है और जुब्बल में जोड़ी चांदनी के नीचे इसका मन्दिर है। एतदतिरिक्त 'कुरोलीदेव', 'बालदेव', 'खालदेव' तथा 'कवालीदेव' का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है।

हिमाचल के प्रत्येक गांव व क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित उसके रक्षक, लोक-देवता है। प्राकृतिक नियमों को प्रभावित करने वाले अद्वितीय वीरता एवं अतिमानवीय शक्ति का प्रदर्शन करने वाले किसी व्यक्ति विशेष को जनमानस देवत्व के पद पर अधिष्ठापित कर देता है। कई बार लोकमंगलकारी 'पराशक्ति' को आधार मानकर अलौकिक-शक्ति सम्पन्न व्यक्ति विशेष की पूजा का आरम्भ होता है। इसी देव-अवस्था में एक देवता को प्रधान मानकर अन्यों को गौण पद पर आसीन कर दिया जाता है। यही स्थिति हिमाचल के 'जुनगा' के प्रति जन-आस्था की है। यही कारण है कि शिमला जन-पद क्योंथल क्षेत्र में 'जुंगा का अत्यधिक प्रभाव और जनमानस में उसके प्रति गहरी श्रद्धा एवं विश्वास है।

'जुंगा' के बाईस पुत्रों के भी इस क्षेत्र में अनेक पूजा-स्थल हैं। परन्तु उनका महत्त्व इतना नहीं, जितना 'जुनगादेव' का है। 'जुनगा' यहां का प्रधान देवता है तथा अन्य उसके अनुचर हैं।

सिरमौर जनपद में देवी-पूजा

सृष्टि के आरंभ से ही शक्ति का स्थान मुख्य रहा है। उसकी मान प्रतिष्ठा व पूजा अनेक प्रतीकात्मक रूपों में होती रही है। यही शक्ति कहीं नारी तो कहीं जननी के श्रद्धास्पद रूप में प्रतिष्ठित है। श्रद्धालु कामना भेद इसके विभिन्न रूपों की उपासना करते हैं। वैदिक युग में इस शक्ति का आदरणीय और महनीय स्थान था। ऋग्वेद के अनेक सूक्त इसकी स्तुति के प्रमाण है। प्राग्वैदिक काल में भी शिमला घाटी से काठियावाड़ तक फैली द्रविड़ सभ्यता में शक्ति (देवी) पूजा के बहुत से चिन्ह उपलब्ध होते हैं।

यह शक्ति यद्यपि सबकी अधीश्वरी है तथापि कभी हिमालय की तपस्या और प्रार्थना से प्रसन्न होकर उनकी पुत्री—पार्वती रूप में, तो कभी कात्यायन ऋषि के आश्रम में उनकी कन्या कात्यायनी बनकर एवं मातृभक्ति के रूप में स्कन्द-माता बनकर प्रकट हुई है। यही शक्ति महा काल को भी कवलित करने की क्षमता से 'कालरात्री' तथा भक्तों की अभीष्ट कामनाओं की पूरक 'सिद्धिदात्री' रूप में पूजी जाती है। अतएव एक ही शक्ति के अनेक नाम और रूप हैं।

हिमाचल प्रदेश में इस शक्ति अथवा देवी की अनेक उपासना पद्धतियां प्रचलित हैं। यहां हिन्दू शास्त्रों के आधार पर दुर्गा, काली, पार्वती, कालिका, अष्टभुजा, ज्वाला-मुखी आदि नाम एक ही देवी के पर्याय हैं। कुछ नाम प्रत्येक क्षेत्र व स्थान के आधार पर स्वतन्त्र हैं। ये देवियां नवकोटि (नौ करोड़) अथवा नौ श्रेणियों में विभाजित हैं। कन्या पूजन में इन्हीं देवियों को प्रतीक मानकर पूजा जाता है। अतएव चैत्र शुक्ल तथा अश्विन शुक्ल पक्ष के नवरात्रों में देवी पूजन विशेष रूप से किया जाता है। कुछ लोग तो प्रतिमास शुक्ल पक्ष की अष्टमी को व्रत रखते हैं। कहीं-कहीं आटे के बनाए हुए दीपों में ज्योति प्रज्वलित की जाती है। प्रतिदिन अपने घरों में देसी घी का दीपक जलाने की परम्परा भी है। नवरात्रों में स्वयं अथवा ब्राह्मण द्वारा अनुष्ठान संपन्न करने की रस्म है। कन्याओं को मिष्ठान्न अथवा हलवा खिलाया जाता है। पंचोपचारों से इनकी पूजा की जाती है।

हिमाचल में देवी की प्रसन्नता के लिए बलि की भी परम्परा है। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में इसका प्रचलन बन्द भी हो रहा है। सामान्यत: बलि के लिए हृष्ट-पुष्ट बकरा ही उपयुक्त समझा जाता है।

सिरमौर जनपद की देवियों के प्राकट्य तथा मन्दिरों के निर्माण के साथ अनेक घटनाओं, जनश्रुतियों व आख्यानों ने पौराणिक पद्धति के सदृश ही अपना ताना-बाना बुना है। जिनसे तत्स्थानीय जन जीवन की आस्था का स्पष्ट चित्र सामने आता है।

खाना खाना : में ज्वालामुखी (कांगड़ा की देवी) का अविर्भाव माना जाना है। यहां ज्वालामुखी के मन्दिर की भांति मान्यता है। इस देवी मन्दिर के साथ एक प्रचलित जनश्रुति जुड़ी है। कहते हैं एक बार महन्त इतवार नाथ हरिद्वार गए थे, वहां उनको देवी के दर्शन हुए। जब वे वहां से जाने लगे तो महन्त ने देवी से पूछा कि अब उसके दर्शन कब होंगे। देवी ने कहा कि वह दो वर्ष के पश्चात् उससे खाना में मिलेगी। देवी ने उसके मुख में प्रवेश किया, महन्त इस बात से अनभिज्ञ था, उसने हाथ से अपने मुंह पर चांटा मारा और मुंह को जोर-जोर से पीटने लगा। महन्त की अनभिज्ञता के कारण देवी महन्त के पास से नाराज होकर चली गयी। उसी समय आस-पड़ोस का जंगल अग्निकाण्ड की लपेट में आ गया। लोगों ने विचार किया कि यह महन्त कोई दुरात्मा है जिसने देवी को क्रोधित किया है। इस रहस्य की वास्तविकता जानने के लिए ब्राह्मणों को बुलाया गया। उन्होंने देवी के प्राकट्य की सारी वस्तुस्थिति से सबको अवगत किया। कहा जाता है कि उस जंगल के पत्थर आज तक काले हैं। तदन्तर उस स्थान का शुद्धिकरण किया गया और एक देवी मन्दिर बना। एक ब्राह्मण को पुजारी के रूप में नियुक्त किया गया। प्रत्येक रविवार तथा संक्रान्ति के दिन देवी को भोग लगाया जाता है। अश्विन-शुक्ल अष्टमी को मेला लगता है।

नगर कोटी देवी : शाया पंजोठा और शरौली में 'नगर-कोटी', देवी के मन्दिर हैं। सुनते हैं कि पाण्डव अपनी कैलाश यात्रा से लौटते हुए शाया पंजोठा में कुछ समय के लिए ठहरे थे, उन्होंने यहां देवी के मन्दिर का निर्माण करवाया था। कुछ लोगों के अनुसार वे देवी को यहां लाए थे। इस मन्दिर की एक विशेषता है कि इसका द्वार दक्षिण की ओर है। शुक्ल पक्ष की अष्टमी को यहां भेंटें चढ़ाई जाती। सपारा में भी नगरकोटी देवी का मन्दिर है। यही नगर कोटी देवी दलाहान में दलाहान देवी के नाम से पूजित होती है।

बिसनान में भारती देवी का निवास माना जाता है। जिसके विषय में किम्वदन्ती है कि इस देवी को केदार नाथ बदरी नारायण से लाया गया है। इसे कुसवी देवी भी कहते हैं। लाई की पहाड़ी पर भेरा रैंगड़ दस्यु का बनवाया एक देवी का मन्दिर है। प्रत्येक मास की संक्रान्ति, प्रत्येक रविवार तथा नवरात्रों में यहां देवी की विशेष पूजा अर्चना होती है। असंख्य श्रद्धालु यहां मनौतियां चढ़ाने आते हैं। देवी भंगाई का मंदिर धार गांव में है। यह एक लिंग मन्दिर है। एक जनश्रुति के अनुसार कहते हैं कि कुछ ग्वाले जंगल में पशुओं को चरा रहे थे। बच्चों ने वहां एक नुकीला पत्थर देखा, उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए। अगले दिन जब देखा तो वे सब टुकड़े आपस में जुड़े थे। कहीं भी अलग होने का कोई चिन्ह नहीं था। यह घटना अनेक बार घटी। लोगों ने उसे एक देवी

और चमत्कारिक घटना समझा तथा देवी शक्ति से प्रेरित व प्रभावित होकर वहां मन्दिर का निर्माण करवा दिया। ढसाकना के लोग आज भी इस घटना को सबको सुनाते है। यह लिंगमयी देवी की प्रतिमा चार इंच ऊंची और चार इंच परिधि की है। इसे ही देवी भंगाई के नाम से जाना जाता है। इस देवी को वस्त्र आभूषण नहीं पहनाते हैं। पुजारी की भी विशेष व्यवस्था नहीं है। यात्री अपने साथ निजी ब्राह्मण पुजारी को ही साथ लाया करते हैं। दूध और घी के अतिरिक्त बकरे भी भेंट में चढ़ाये जाते हैं। आषाढ़ मास की भिन्न-भिन्न तिथियों को यहां मेलों का आयोजन होता है। इन मेलों के अवसर पर बजाई और घटरियाली देवियां भी सम्मिलित होती हैं। इन मेलों में भोजेस, ठकरी ढसाकना के लोग भी देवी दर्शनार्थ पहुंचते हैं।

बाइला में नयना देवी की पूजा का आयोजन होता है। इस देवी के पुजारी भाट परिवार से सम्बन्ध रखते हैं। यहां भाटों के बहुत परिवार है। प्रत्येक परिवार क्रमशः एक-एक महीने के लिए अपना पुजारी का दायित्व निभाता है। इसके बदले में उसे आस-पड़ोस के गांव की उपज पर अनाज मिलता है। यदि कोई पुजारी कर्तव्य निष्ठा व ईमानदारी से अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं करता तो उसे फसल के भाग से वंचित रखा जाता है। इस देवी की यह एक विशेषता है कि यहां कोई मन्दिर नहीं है। देवी की मूर्तियां भाट के घर में रखी जाती है। इस देवी की असली मूर्ति क्योंथल से लाई गई बताई जाती है। जिसे भाट के घर में रखा गया था। इसीलिए लोग इसे किसी अन्य स्थान पर नहीं ले जाते। यहां अनेक मूर्तियां हैं परन्तु जो सबसे पुरानी है उसकी स्थापना की गई है। यह लगभग एक फुट ऊंची है। भुजाएं चार हैं, देवी के उपरि अर्ध शरीर को ही पत्थर पर उत्कीर्ण करके बनाया गया है। सिर पर चांदी का छत्र रहता है चांदी के आभूषण तथा पालकी भी है। सावन मास के प्रथम तीन दिनों में गांव के ऊपर की रानवी धार में मेला लगता है। जिसमें कराली और निकटवर्ती गांव के लोग एकत्रित होते हैं। लोग यहां नाचते और गाते हैं। मेले की प्रत्येक सायं को देवी की मूर्ति माशवा और टटियाना गांव में दर्शन देती है। परन्तु दिन के समय मेले में रहती है। यहां यह विश्वास किया जाता है कि यदि हैजा या अन्य महामारी किसी गांव में फैल जाती है तो इस मूर्ति को उस गांव में ले जाने से रोग मुक्ति हो जाता करती।

ला देवी बंगला टोका के समीप जंगल में एक पुराना छोटा-सा मन्दिर है। इसमें देवी की मूर्ति है। हिन्दू और मोहम्मडन गूजर इस देवी की समान रूप से पूजा करते हैं। प्रत्येक मास की संक्रान्ति के दिन यहां मेला लगता है। सन् 1823 के लगभग भोज भजगा के लोगों ने त्रिलोकपुर के ठाकूर में इस नई देवी के प्रकट होने की घोषणा की थी। लोगों ने मिलकर इस देवी के मन्दिर का निर्माण करवाया। इस देवी का पुजारी कनैत जाति से सम्बन्ध रखता है। वह विशेष दिन मन्दिर में देवी की पूजा करता है, मन्दिर से बाहर आकर नाचता व गाता है, वहां उपस्थित लोग जय-जय के नारों से उसका स्वागत करते हैं तथा उसके आगे नतमस्तक हो जाते हैं। वह अर्ध चेतन

अवस्था में लोगों के दुःखों, पीड़ाओं, बीमारियों एवं उनके उपचारों की भविष्यवाणियां करता है।

क्वाग नामकधार पर स्थित देवी की केवल भाट ही पूजा करते हैं। भाट देवी के सम्मान में नाचते हैं। पूजा का ढंग ला-देवी की तरह ही है। इसी तरह बेगली देवी की सिमलाशन में पूजा होती है। 'कुंडी' देवी का मन्दिर दूदम व सील पच्छाद में विद्यमान है। इसके सम्बन्ध में एक गाथा जुड़ी है। सूर प्रकाश सिरमौर का राजा अंधा था, नेरी जगीला में रहता था। उसकी एक पुत्री थी। राजा ने मुगल सम्राट को कर देना बन्द कर दिया। सम्राट ने राजा के विरुद्ध सेना भेजी। राजा की ओर से सेना का नेतृत्व राजकुमारी ने किया। सिरमौर सेना को सम्राट के सैन्य बल से पराजित होना पड़ा। पर्याप्त जन बल का संहार हुआ। राजकुमारी उसी युद्ध में काम आई। राजा का पुरोहित वीर गति प्राप्त उस वीरांगना के सिर को दूदम में ले आया। वहां एक मन्दिर बनवाया गया। उसी राजकुमारी की देवी के रूप में पूजा शुरू कर दी। एक अन्य धारणा के अनुसार राजकुमारी चिल्ली में मुगल सेना के विरुद्ध लड़ती हुई मारी गई थी। पुरोहित ने निश्चित स्थानों पर उसे ढूढने का प्रयत्न किया। अन्त में उसे एक मूर्ति मिली जो इस समय मन्दिर में प्रतिष्ठापित की हुई है। दीपावली से पूर्व एकादशी के दिन यहां मेला लगता है। उस दिन मूर्ति को सिंहासन पर आसीन किया जाता है। आषाढ़ मास के प्रत्येक रविवार को भी ऐसा ही किया जाता है।

बाला सुन्दरी : बाला सुन्दरी का प्रसिद्ध मन्दिर त्रिलोकपुर में है, चैत में इस देवी के सम्मान में बहुत बड़ा मेला लगता है। यहां बलि देने की भी प्रथा है। पंजाब और हरियाणा के लोग इस देवी के दर्शन के लिए उपस्थित होते हैं।

कटासन देवी का मन्दिर बड़ाबन में स्थित है। यह नाहन से दक्षिण की ओर पौंटा साहिब सड़क पर स्थित है। कहते हैं कि राजपूतों और गुलाम कादिर, रोहिला के मध्य युद्ध हुआ। एक स्त्री राजपूतों की ओर से लड़ी। मुहम्मदों के पांव उखड़ गए। राजपूतों का विजयश्री ने वरण किया। यहीं पर राजपूतों की विजय की स्मृति में मन्दिर का निर्माण करवाया था। चैत्र और अश्विन मास के नवरात्रों में यहां मन्दिर में हवन व पूजापाठ होता है। यहां बहुत बड़े मेले का आयोजन होता है।

सिरमौर जनपद में शीतला देवी को 'चेचक रोग निवारिणी' माना जाता है। नाहन में शीतला षष्टी का मन्दिर है। यहां प्रत्येक नवजात शिशु को शीतला देवी के पास चेचक के भय से मुक्ति के लिए लाया जाता है। चैत्र कृष्ण षष्ठी को सिरमौर क्षेत्र के दूर-दूर के श्रद्धालु यहां पहुंचते हैं। नाना प्रकार के पकवानों की भेटें चढ़ाई जाती है। पूजा सामग्री को सफाई मजदूर आपस में बांट लेते हैं। मुर्गी को उड़ाने की परंपरा भी है। मुर्गी को शीतला देवी का प्रतीक समझा जाता है।

सिरमौर में उपरोक्त प्रमुख मन्दिरों के अतिरिक्त और भी कई देवी मंदिर हैं। उनके साथ भी कोई न कोई कथानक जुड़ा हुआ है। आज भी अनेक स्थानों पर किसी

व्यक्ति विशेष के पास देवी का प्रकट्य होता है। वहीं मंदिर बनवा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग सश्रद्ध भी मंदिरों का निर्माण करवा रहे हैं। इन मन्दिरों के साथ हिमाचल की संस्कृति, जन आस्था, लोक विश्वासों और मान्यताओं का स्पष्ट चित्र सामने आता है। कुछ देवी मन्दिरों के प्रति हिन्दू और मुस्लिम समान श्रद्धा रखते हैं। विभिन्न धर्मावलंबियों में पारस्परिक भ्रातृभाव धर्म सहिष्णुता का यह प्रतीक है। इससे हिमाचल का देव-भूमित्व भी स्पष्ट है।

कुल्लू के प्रसिद्ध मन्दिर

भूगोल अपनी स्पष्ट और अटपटी रेखाओं द्वारा महाद्वीपों, देशों तथा प्रान्तों का सीमांकन करता है और इतिहास उन सीमाओं पर अपने निर्मम हाथों से पुष्टि की मुहर सख्त कर देता है। अनेक तारीखी स्मृतियों और लोकमानस में पली विश्रुतियों के सहारे, कुदरत के सतत् संरक्षण में सुरक्षित हिमाचल प्रदेश का यह हृदय-स्थल---'कुल्लू'---अपने इतिहास, संस्कृति, धर्म, भाषा और प्राकृतिक सुषमा की गौरव गाथा सुनाता रहा है।

कुल्लू प्राचीन काल से 'देवताओं की घाटी' रही है। यहां हर गांव, बल्कि हर कुल का अपना अलग-अलग देवी या देवता होता है और इस तरह एक गांव में दो या दो से अधिक देवी-देवता भी पास-पास रहते हैं। देवता देवालय या मन्दिर में निवास करते हैं। फिर वे दस बीस या पचास नहीं, कुल जमा तीन सौ पैंसठ हैं और जिला के सभी दूरस्थ, भीतरी भागों में बसे हुए हैं। यहां की लोक भाषा में देवता को 'देऊ' और देव-स्थानों को 'द्योहरा' कहा जाता है। निस्सन्देह इन द्योहरों की संख्या तीन-चार सौ से कम नहीं है। कहीं न कहीं, कोई न कोई 'जाच' (मेला) आयोजित होती है। सभी देवी देवताओं का दर्शन करना हो, और प्रतिदिन एक देवस्थान की प्रदक्षिणा की जाए, तो 365 दिन यानि पूरा एक वर्ष कुल्लू का भ्रमण करना पड़ेगा।

पौराणिक युग से भारतवर्ष विभिन्न पीठों में बंटा रहा है। भारत के पूर्वी भाग में कामाख्या पीठ है, पश्चिम में (काश्मीर प्रदेश) में शारदा पीठ है और बिल्कुल साथ ही उत्तर-पश्चिम की ओर त्रिगर्त प्रदेश में जालन्धर पीठ पड़ती है। इसके जरा आगे कौलान्त पीठ है। धर्म के विषय में यहां बड़ी सहिष्णुता एवं उदारता बरती जाती रही है। अनेक जातियों के देवी-देवताओं के आ मिलने के कारण 'बहुदेववाद' हिन्दुत्व का अनिवार्य अंग बन गया था। अनेक देवी देवताओं के आविर्भाव के कारण उनके महात्मय की भी अनेक कथाएं पुराणों में भर गईं। विभिन्न उपासना मार्ग चल निकले! कौलान्त पीठ में अनेकों प्राचीन मन्दिर हैं। महाभारत के घोर युद्ध के बाद पाण्डवों ने हिमालय की रमणीक उपत्यकाओं में भ्रमण का निश्चय किया और अपने 'अज्ञातवास' से पूर्व वे इधर आ निकले थे। इस घाटी में वे काफी समय रमे रहे।

मनाली बाजार से लगभग दो किलो मीटर ऊपर 'ढूंगरी' के घने वनों के मध्य में देवी 'हिडिम्बा' का प्रसिद्ध ऐतिहासिक मंदिर है। पत्थर और लकड़ी के योग से बना

यह मंदिर 'पेगोडा' शैली का सुन्दर उदाहरण है। मंदिर के भीतर एक बहुत बड़ी चट्टान है, उसी को आवेष्टित करके एक मनोहर गोम्पा नुमा भवन तैयार किया गया है। चट्टान के नीचे की भूमि पर द्वार के समीप ही एक खाई है, जिसे 'हिड़िम्बा माई का खप्पर' कहा जाता है। इसका आकार योनि जैसा है। माता को प्रसन्न करने की इच्छा से इसे भैंसे के रक्त से भरना पड़ता था। मगर अब वहां बकरों का रक्त डाला जाता है। जनश्रुति है कि चाहे कितने ही बकरों का रक्त चढ़ाएं, वह खाई (खप्पर) भरेगी नहीं। विस्मय की बात तो यह है कि इसके पेंदे में कहीं कोई छिद्र नहीं जिससे रक्त स्राव की संभावना हो। हां, 'माई' प्रसन्न हो तब एक बकरे से भी काम चल जाएगा। प्रसंगवश, यह बताना उपयुक्त होगा कि वीर योद्धा भीमसेन को 'हिड़िम्ब' राक्षस से युद्ध करना पड़ा था। शौर्य एवं पराक्रम से भीम ने उसे पराजित किया था। उसकी शूरवीरता पर मुग्ध होकर 'हिड़िम्बा' (हिड़िम्ब की बहिन) ने भीम को अपने प्रेम-पाश में फांस लिया। गन्धर्व विवाह हुआ, और बाद में इनके यहां घटोत्कच नामी वीर पुत्र पैदा हुआ था।

मनाली से जरा इधर, 5 मीटर के अन्तर पर व्यास नदी के बाएं तट पर, घाटी का सुन्दर गांव जगतसुख आता है। पाण्डवों द्वारा निर्मित यहां 'संध्या-गायत्री' का मंदिर लाजवाब है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुल्लू में वास्तुकला एवं मूर्तिकला के रसिक तथा शिल्पी बहुत प्राचीनकाल में मौजूद थे। इस मन्दिर के पार्श्व में ही ऋषि धौम्य का छोट्‍ा-सा मंदिर है। धौम्य ऋषि पाण्डवों के गुरु थे।

जगतसुख से थोड़ा उधर शिरू (परीणी) गांव में शवरी का ऐतिहासिक मन्दिर है। पौराणिक गाथा है कि एक बार आशुतोष (महादेव) जी ने शवर का रूप धारण करके वीर अर्जुन से युद्ध किया था। शिव के उस रुद्र रूप की प्रतिष्ठा में यहां के प्राचीन कलाविदों ने यह मंदिर बनाया था। प्राचीन वास्तुकला का यह भी एक अद्भुत नमूना है।

जगतसुख से आगे बढ़ें, तो कोई सात किलोमीटर की दूरी पर 'ठावा' का सुन्दर मन्दिर आता है। मन्दिर में चमचमाते संगमरमर पर राधा कृष्ण की अतीव मनोहर मूर्ति सजी हुई है। कुछ लोगों का मत है कि यह मूर्ति बाहर से मंगवाई गई है। मगर इसका कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अतः यह मानने की गुंजाइश रहती है कि संम्भवतः इसे यहां के कलाकारों ने तराशा होगा। ठावा के मन्दिर का परिचय यहां के एक लोकगीत की इस आरम्भिक पंक्ति में भी मिलता है—

बुरे घिरे नगरा
उभ्मले घिरे ठाउए रा कोटा—

(अर्थात् नीचे की तरफ नगर गांव हैं और नगर से ऊपर ठावा का मन्दिर है।)

नगर कुल्लू रियासत की प्राचीन राजधानी भी है। नगर की भौगोलिक स्थिति इतनी अनुपम है कि देखते ही बनती है। गांव के इधर, एक किलो मीटर पर, व्यास बहती है। प्राकृतिक छवि ऐसी मनमोहक है कि आदमी ठगा सा रह जाता है। नगर में

दो प्रसिद्ध मंदिर हैं। एक त्रिपुरा सुन्दरी (देवी) का और दूसरा भगवान शंकर का। अपने प्राकृतिक सौंदर्य एवं भौगोलिक स्थिति के लिहाज से गांव तो सुन्दर है ही, यहां का शिव-मन्दिर पाषाण कला की दृष्टि से एकदम भव्य है। पर्यटक मन्दिर के शिल्प को देखकर विस्मय-विमुग्ध हो जाते हैं। शिवलिंग के स्थान पर यहां उमाशंकर की, तीन फुट ऊंची मूर्ति एक अनुपम कलाकृति है। मन्दिर भारत के पुरातत्व विभाग के अधीन है। इस मूर्ति और मन्दिर को बने अढ़ाई हजार वर्ष बीत गए हैं। पाषाणकला दक्षिण भारत के शिल्पियों की प्रतीत होती है। धारणा है कि प्राचीन राजाओं ने दक्षिणी भारत के शिल्पी निर्माण कार्य के लिए यहां बुलाए थे, अथवा मूर्ति वहां से मंगवाई थी। मगर यहां के मान्य लोग इस मत का खण्डन करते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि प्रारम्भ में कुल्लू-कांगड़ा के शिल्पियों ने इस शक्तिपीठ में अनेकों मन्दिर अपने कला-कौशल एवं कल्पना के बल पर तैयार किए थे।

कुल्लू (खास) में तीन मन्दिर हैं। प्रथम दो—लक्ष्मी नारायण का मन्दिर और ठाकुर रघुनाथ जी का मन्दिर—सुलतानपुर में राजमहल के पार्श्व में अवस्थित हैं। पाषाणकला निर्माण की दृष्टि से लक्ष्मी नारायण के मन्दिर का महत्व द्रष्टव्य है जबकि रघुनाथ जी का निवास-स्थान शिल्प या भवन निर्माण की दृष्टि से इतना भव्य नहीं है। मगर रघुनाथ जी इस अंचल के समस्त देवी देवताओं के मुख्य तथा परम आराध्य हैं, अत: इनके देवालय का महत्व स्वत: द्विगुणित हो जाता है। तो भी नीर-क्षीर न्याय-बुद्धि रखने वाले पर्यटकों को यह विरोधाभास खटकता अवश्य है। रघुनाथ जी की वर्त्तमान मूर्ति तीसरी शती ई० में अवध से मंगवाई गई थी। एक धारणा के अनुसार राजा जगत सिंह ने राम की इस मूर्ति को मंगवाया था। तब से ठाकुर रघुनाथ जी कुल्लू राज्य के अधिपति हुए और यहां के राजे खुद को रघुनाथ जी के उत्तराधिकारी मानने लगे। मूर्ति को अयोध्या से चुराकर उड़ा लाने की जनश्रुति काफी रोचक है। श्री रामचन्द्र जी के असाधारण गणों एवं शक्ति से मण्डित 'ठाकुर' जी की महानता सर्वोत्तम है। मनुजाकर में बनी सोने की यह मूर्ति लगभग आध-फुट ऊंची है। बहुत वर्ष बीते, कुल्लू के एक राजा कुष्ठरोग के शिकार हुए। उस समय यहां के राज-देवता 'पुजारी' थे। राजा ने पुजारी से, सभी देवी-देवताओं समेत, अपने स्वास्थ्य की प्रार्थना की। मगर वह निष्फल रही। तब एक दरबारी ने परामर्श दिया, "अयोध्यापुरी में एक देवता है जो अपने प्रताप से आपके रोग का निवारण कर सकते हैं।" निराश राजा को यह सलाह पसन्द आई और तुरन्त एक सुघड़ दरबारी को साधु-वेश में अयोध्या भेज दिया। वहां रघुनाथ के मन्दिर में वह कुछ देर अवसर की प्रतीक्षा में रहा। पुजारी से सांठ-गांठ करके एक दिन मूर्ति को चुरा कर भाग निकला। मूर्ति की प्रतिष्ठा राजमहल के एक निकटवर्ती भवन में की गई। और उसके तुरन्त बाद राजा का कोढ़ जाता रहा। राजा को विश्वास हो गया कि इसी धरती पर 'ठाकुर रघुनाथ' से बढ़कर इधर कोई प्रभावशाली देवी या देवता नहीं है। अत: उन्होंने 'ठाकुर' जी को न केवल अपना परमाराध्य देवता बना लिया बल्कि समस्त कुल्लू-राज्य का महाराजा भी घोषित कर दिया। अयोध्या से आए पुजारी भी यहां बस गए। रघुनाथ जी के सोलह

पुजारियों में से एक पुजारी आज भी अयोध्या निवासी है। पुजारी 'देऊ' निष्कासित नहीं किया गया परन्तु रघुनाथ जी के समक्ष सभी देवी देवताओं की महत्ता गौण हो गई। और राजाज्ञा हो गई कि आगे से सारे प्रान्त के देवी देवता 'ठाकुर' जी के हजूर में श्रद्धांजलि पेश करने आया करेंगे। तदर्थ अब हर वर्ष दशहरे के अवसर पर यह रस्म बड़ी श्रद्धा और उत्साहपूर्वक सम्पन्न होती है। कुछ पुराने बुजुर्गों की ऐसी धारणा भी है कि सोने की यह मूर्ति बहुत प्राचीन है और इसे स्वयं दशरथ-पुत्र राम ने अपने हाथों से अयोध्या में स्थापित किया था।

कुल्लू ही में ढालपुर के स्थान पर 'गाहरी देऊ' (देवता) का मन्दिर है। वास्तु-कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व नहीं, पर एक रोचक जनश्रुति इसे ऐतिहासिक महानता दिए हुए है। कहते हैं कि 'गाहरी' देऊ मन्डी रियास्त (गुम्मा) का आदि निवासी है। एक बार राजा कुल्लू ने मण्डी राज्य पर चढ़ाई की। विजय प्राप्त कर जब राजा लौट रहा था तो उसका सुन्दर, स्वस्थ, घोड़ा लंगड़ा हो गया। जब गुबू जोत पर से वह गुजरा, तो देखा कि एक बालक (ग्वाला) जो गौवें चरा रहा था, सहसा 'उभरने' लग पड़ा। राजा के पूछने पर ग्वाले ने कहा, "मैं गाहरी देऊ हूं···आपके घोड़े को अभी स्वस्थ करूंगा, मगर एक शर्त है, वह यह कि आप मुझे कुल्लू ले चलेंगे, वहां जागीर और एक मन्दिर का प्रबन्ध करेंगे !" क्योंकि घोड़ा अब ठीक हो गया था, राजा देऊ का भक्त बन गया और इस प्रकार 'गाहूरी' देवता ने ढालपुर में डेरा डाला। मन्दिर बनवा दिया गया। पश्चात् अंग्रेज असिस्टेंट कमिश्नर ने जीर्ण-शीर्ण, असुन्दर मन्दिर को गिराने की आज्ञा दी। स्थानीय मजदूर पहले तो काम पर न आए, फिर राजदण्ड के भय से काम जारी हुआ। दो चार दिनों में दीवारें गिराई गई। अब 'पिण्डी' हटाने की नौबत आई। ज्यों ही मजदूरों ने पिण्डी को कुदाल लगाया तो उसे एक भयंकर भुजंग से लिपटा पाया — त्रस्त हो, वे भाग निकले और मन ही मन 'देऊ' से अपनी निष्कपटता और विवशता का प्रदर्शन करने लगे। साहब बहादुर ने इसे सच न माना और स्वयं घटनास्थल पर पहुंचे। कहते हैं कि सर्प के दर्शन मात्र से ही हाकिम के होश उड़ गये। उसे रात्रि में भी वह फणि-हर नजर आने लगा। इस प्रकोप का मारा साहब बिना छुट्टी स्वीकृत कराए बम्बई भाग गया। रास्ते में उसका एक बच्चा मर गया और पत्नी पागल हो गई। बम्बई पहुंचने पर भी जब सर्प-दर्शन से उसका पिंड न छूटा, तो उसने किसी भारतीय मित्र के परामर्श पर 'गाहरी' देवता के कारदार को 300 रुपये का मनीआर्डर भेजा जिससे मन्दिर का फिर से निर्माण कराया गया। बाद में भी अंग्रेज अधिकारी यहां नियुक्त हुए, मगर फिर कभी किसी ने इस मन्दिर को हटाने का दुस्साहस नहीं किया।

कुल्लू से थोड़ा नीचे, लगभग 8 मीटर की दूरी पर खोखन गांव है। यहां 'आदि-ब्रह्मा' का बहुत प्राचीन मन्दिर है। खोखन गांव मोटर सड़क से जरा ऊपर चढ़ाई पर है। यह मन्दिर ढूंगरी की 'पेगोडा' शैली पर बना है। भारतवर्ष में ब्रह्मा के केवल तीन मन्दिर हैं, जिसमें से एक यह है। ऊपरी कुल्लू में ढाड़ा में विष्णु का मन्दिर है। शिव-मन्दिर तो यहां अनेक हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुल्लू में आर्य-संस्कृति आरम्भ

होते ही 'त्रिदेव' की मूर्ति पूजा होने लगी थी।

मून्तर से नीचे, मुख्य कुल्लू-मण्डी सड़क पर बजौरा का शिव मन्दिर है। शंकर का यह मन्दिर पाषाणकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। 1905 के भूकम्प में अनेकों कला-पूर्ण पत्थर धराशायी हो गये हैं। फिर भी, जो कुछ बचा है उससे आभास मिलता है कि प्राचीनकाल में कुल्लू में वास्तुकला खूब विकसित रही होगी। सामने दिए गए चित्र से मन्दिर की भव्यता और सौन्दर्य का अंशतः अनुमान हो जाता है। मन्दिर के भीतर शिव-लिंग स्थापित है। बाहर दुर्गा, महाकाली इत्यादि की मूर्तियां भी हैं। यह मन्दिर भी सरकार के पुरातत्व विभाग के संरक्षण में है।

शिवजी का ही एक मन्दिर 'बिजली-महादेव' है। जहां, पार्बती नदी विपाशा (व्यास) से मिलती है, उस सुन्दर संगम-स्थल से उधर पर्वत की ऊंची चोटी (8000 फीट) के शिखर पर बिजली महादेव का मन्दिर है। मन्दिर काष्ठ-पाषाण के कुशल सम्मिश्रण का सुन्दर नमूना है। प्रवेश द्वार काफी ऊंचा तथा खुला है। दूर से देखने पर यह भवन मन्दिर कम और डाक-बंगला अधिक लगता है। भवन के चहुं ओर काफी खुली और ढलानदार जगह है जहां हर मौसम में कोमल हरी दूब का मखमली फर्श यात्रियों का स्वागत करता है। समग्र कुल्लू का दृश्य यहां से नज़र आता है। चोटी के कदमों को चूमती व्यास और पार्वती नदियां, अनुपम शोभा दर्शाती हैं। जस्टिस गोपाल दास खोसला ऐसे प्रसिद्ध लेखक का कहना है, "बिजली महादेव और कायसधार ऐसे स्थल हैं, जहां हम जितनी बार जाते हैं, उतनी बार इन जगहों को नवीन पाते हैं।" वन-पुष्पों की विपुलता और सुगन्ध सांसों को सुगम और मन को उल्लसित करती है। लाल, पीले, चम्पई रंगों के शोख फूलों को देख कर नयन ठगे रह जाते हैं। आंगल साहित्य से परिचय रखने वाला सहृदय पर्यटक इन्हें देख कर प्रसिद्ध छायावादी कवि वर्डस्वर्थ के "डैफोडिल्स" की मधुर स्मृति किए बिना नहीं रह पाता। फिर कोई हिन्दी साहित्यानुरागी, पन्त जी की इन पंक्तियों को स्मरण कर अपनी प्रेमिका को मूक संदेश देने को विवश होता है--

"छोड़ द्रुमों की मृदु छाया—
तोड़ प्रकृति से भी माया—
बाले तेरे बाल जाल में—
कैसे उलझा लूं लोचन!"

मन्दिर के मुख्य द्वार की भित्ति पर निहायत बढ़िया नक्काशी हुई है। भीतरी कक्ष में शिवलिंग स्थापित किया गया है। जनश्रुति है कि शिवलिंग पर अनेकों बार 'वज्र-पात' हो चुका है और यह सैकड़ों बार खण्डित हुआ है। कहते हैं कि हर तीसरे वर्ष बिजली गिरती है, उमड़ घुमड़ कर मेघ गरजते हैं और फिर पिण्डी टुकड़े-टुकड़े होकर पास के मैदान में विकीर्ण हो जाती है। पुजारी अगले रोज प्रातः पास-पड़ोस के श्रद्धालुओं को सूचित करते हैं। वे नवनीत, किलटा और रेशमी वस्त्र लाते हैं। किलटे में उन टुकड़ों को एकत्रित करके लाते हैं, नवनीत लगाकर वस्त्र द्वारा बांधा जाता है और किलटे के नीचे ढांप देते हैं। अगली सुबह को शिवलिंग अपनी अगली हालत में होता है। बिजली महादेव

की सत्ता एवं शक्ति पर कुल्लू निवासियों को अटूट विश्वास है। पदवी के लिहाज से इस देवता की महत्ता रघुनाथ के पश्चात् सबसे अधिक है। दशहरा में बिजली महादेव जी रघुनाथ जी को श्रद्धांजली अर्पित करने आते हैं। मगर, राजा बिजली महादेव के सम्मान में वर्ष में एक बार विशेष जाच (मेला) का प्रबन्ध करते हैं। इसका दूसरा नाम 'पीपल यात्रा' है जो 28 अप्रैल को कुल्लू के दशहरा ग्राऊंड्स में लगती है।

मणिकर्ण में, जहां गर्म पानी के चश्मे हैं—रामचन्द्र जी का प्राचीन मन्दिर है। इधर कुल्लू से तीन किलोमीटर ऊपर भेखली में जगन्नाथी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है। गोशाल में गौतम ऋषि का मन्दिर है। चहिनी (भीतरी सिराज) में श्रृंगा ऋषि का मंदिर है। निर्मण्ड (वाह्य सिराज) में दो पुराने मन्दिर हैं—एक अम्बिका देवी का और दूसरा श्री परसराम जी का। निर्मण्ड में प्रचलित नरमेध की रोमांचकारी प्रथा इस गांव के इतिहास को नये आयाम में हमारे सामने प्रस्तुत करती है। हर बारह वर्ष बाद भूण्डा का वह धार्मिक अनुष्ठान जुटता है और नर बलि दी जाती थी। अब पशु बलि से 'भूण्डा' का अनुष्ठान सम्पन्न हो जाता है।

जहां तक विशुद्ध स्थानीय 'द्योहरों' का सम्बन्ध है, ये लकड़ी, पत्थर के बने आकार और आयाम में बहुत सरल होते हैं। मगर इनकी सरलता में भी एक विचित्र कला का हाथ स्पष्ट लक्षित होता है। ये द्योहरे सिद्ध करते हैं कि स्थापत्य कला ने यहां बहुत पहले आंखें खोली थीं। भवन-निर्माण के लिए आवश्यक-सामग्री लकड़ी, पत्थर की यहां कभी कमी नहीं रही है। पीढ़ियों के प्रयास और आपसी सहयोग से यहां के कारीगरों ने इन द्योहरों का निर्माण किया।

देवताओं की इस घाटी में हर घर ही एक मन्दिर है, क्योंकि लोग मानते हैं:

"देवो न विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये।
देवो हि विद्यते भाव तस्मात् भावो ही कारणं।"

अर्थात् देवता लकड़ी, पाषाण या मिट्टी के भवनो या मूत्तियों में निवास नहीं करता, बल्कि वह, उनकी इनके प्रति सच्ची एवं अटूट श्रद्धा और निष्कपट भावना में ही बसा होता है।

सिराज जनपद में शैव-आस्था

भारतीय धर्म-साधना के इतिहास में शिव का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे मानव की आस्तिकता के प्राचीनतम स्रोत हैं। सिन्धु-घाटी की सभ्यता के युग से अद्यावधि भारतीय जनता विभिन्न रूपों में उनकी पूजा करती आ रही है। ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, योग आदि किसी भी मार्ग से उनकी साधना की जा सकती है। साकार और निराकार का भी उनके सम्बन्ध में कोई मौलिक विवाद नहीं है : देवताओं में वे महादेव हैं, त्रिदेव-मण्डल में शीर्षस्थ और ईश्वर की प्राचीनतम कल्पना। भारतीय संस्कृति के सभी प्रमुख स्रोतों का उनसे सम्बन्ध है। नाट्य, नृत्य, संगीत आदि कलाओं तथा आयुर्वेद, व्याकरण इत्यादि विद्याओं के वे आदि उपदेष्टा माने जाते हैं। भारतीय संस्कृति की एकता और अखण्डता के वे सबसे पुराने सूत्र हैं। आर्य और अनार्य दोनों संस्कृतियों का उनको संगम कहा जा सकता है। पूर्व से पश्चिम तक, और उत्तर से सुदूर दक्षिण तक, समस्त भारत में शिव मन्दिरों और तीर्थों का प्रसार है तथा वय, वर्ग एवं वर्ण के भेद-भाव के बिना सभी लोग श्रद्धा और विश्वास के साथ उनकी पूजा करते हैं। हिमाचल प्रदेश की भूमि को शैव-भूमि कहा जाता है। यहां पर शिव के अनेक मन्दिर हैं और शिव की पूजा भी अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक रूप में की जाती है। एक जनश्रुति के अनुसार लाहुल और कुल्लू के बीच रोहतांग पर पहले कोई मार्ग नहीं था। यह बहुत ऊंची पर्वत शिखा थी और यहां शिवाजी ही रहते थे। हिमाचल में शिव को अनेक नामों से पूजा जाता है, परन्तु इनका सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम महादेव या महादेउ है। इस रूप में शिव सभी देवताओं, असुरों और ऋषियों में सबसे अधिक तेजस्वी हैं।

हिमाचल में शिव-पूजा की बहुलता है। भरमौर को तो कहते ही शिव भूमि है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि शिवास्था यहां न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र व्याप्त है। पूरे हिमाचल में शिव-भक्ति दृढ़ता से अपने पांव जमाए हुए है। ऐसा प्रतीत होता है कि जनसाधारण का धर्म तो अपने अपरिपक्व रूप में शैव-धर्म रहा, परन्तु राजाओं ने जन-साधारण से अलग वैष्णव धर्म को अपनाया। सम्भव है कि राजाओं ने मैदानों के वैष्णव धर्म को इस पार्वत्य प्रदेश में लाने के प्रयास किए हों : कुल्लू में ठाकुर गोपाल (कृष्ण) की पूजा पुराने राजगुरुओं के परिवारों तक ही सीमित है जबकि कुल्लू के जनगण में शैव धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा एवं विश्वास है। हिमाचल के दूरस्थ भू-भाग सिराज में

शिव-पूजा प्रचलित है। वहां पर शिव मन्दिर (शिवालय) विद्यमान हैं, यद्यपि इनकी संख्या बहुत कम हैं। यहां पर सिराज जनपद में विद्यमान शिव मन्दिरों का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत है।

ईश्वर महादेव

ईश्वर महादेव का मन्दिर शांगड़ी में स्थित है। इसकी कथा इस प्रकार से प्रचलित है--कहते हैं कि चण्डी नामक एक कनैत तीर्थ-यात्रा पर निकला। मार्ग में उसे एक साधु मिला। कुछ समय आगे निकल जाने पर एक ब्राह्मण भी उनके साथ आ मिला। सूर्यास्त होते ही वे धमोली नामक निर्जन स्थान पर रातभर के लिए ठहर गए। वहां देवदार वृक्षों का सघन वन था और आस-पास कोई घर नहीं था। फकीर ने कनैत को बताया कि मैंने द्वापर में यहां कठिन तपस्या की थी। उसने ब्राह्मण को एक विशेष स्थान पर मिट्टी खोदने को कहा और बताया कि यहां एक अद्भुत पिण्डी मिलेगी। उसके कथनानुसार वहां पिण्डी तो मिली परन्तु तब तक साधु अदृश्य हो चुका था। उसी स्थान पर पिण्डी स्थापित कर एक भव्य मन्दिर का निर्माण किया गया। यहां पर सारस्वत ब्राह्मण पुजारी होता है।

शमशेरी महादेव

शमशेरी महादेव का नाम शमशेर ग्राम के नाम पर पड़ा है जहां उसके पांच मन्दिर हैं। एक ब्राह्मण को दूब घास के नीचे एक शिवलिंग मिला और वह उसे उठाकर अपने ग्राम में ले आया। यहां पर उसने मन्दिर का निर्माण कराया और उसमें पिण्डी को स्थापित किया। यहां वर्ष में चार बार मेले लगते हैं। पौष में भूण्डा तथा माघ महीने में 'शांद' मेला होता है। इसमें प्रत्येक अवसर पर पहले चार सौ बकरों की बलि दी जाती थी। फाल्गुन की अमावस्या को 'जाल' और चैत्र मास की अष्टमी को 'पारबत' होना है। इन दोनों उत्सवों पर चालीस बकरों की बलि ही पर्याप्त समझी जाती है। पांच में से तीन मन्दिर पक्के और पत्थर के बने हैं तथा दो लकड़ी के बने हुए हैं। मन्दिरों में दस शिवलिंग हैं और प्रत्येक की ऊंचाई छः फुट है। मन्दिर में एक प्रस्तर प्रतिमा बैल की भी है। देवताओं के शृंगार के लिए कुछ पीतल के मानव मुखौटे भी हैं।

बिणी महादेव

बिणी महादेव का नाम बिण ग्राम पर पड़ा है। इस ग्राम को बिण देहरा भी करते हैं। जनश्रुति है कि बिण में 'जौण' 'तदाशु' नामक दो ठाकुर रहते थे। एक बार उनमें विवाद हो गया और वे परस्पर लड़ने लगे। उसी समय नदी से एक साधु निकला और उसने दोनों को लड़ाई रोकने के लिए कहा। जौण ठाकुर ने उससे पूछा--'तुम कौन हो ? और कहां से आए हो ?' साधु का उत्तर था--मैं कौरवों-पांडवों के देश से आ रहा हूं। ठाकुर जौण ने उससे अनुनय की कि हमारा झगड़ा निपटा दो। साधु ने झगड़े का फैसला कर दिया। इसके पश्चात् जौण तथा साधु व्यास नदी की ओर चल

पड़े। मार्ग में शोलाद ग्राम में एक व्यक्ति ने उन्हें बहुत तंग किया। साधु ने उसे शाप दे दिया जिसके परिणाम-स्वरूप सारा ग्राम जल गया। अगले दिन वे एक निर्झर पर पहुंचे और साधु जल में लुप्त हो गया। रात को आकाशवाणी हुई कि ग्राम का नाम विण रखा जाए और वहां एक मन्दिर का निर्माण करवाया जाए, जब मन्दिर बन गया तो उसमें स्वत: ही शिवलिंग प्रकट हो गया।

जगदेश्वर महादेव

सिराज जनपद में जगदेश्वर महादेव के दो मन्दिर हैं। एक सतलज तट पर दलाश में स्थित है। दलाश के मन्दिर में 30 वर्ष बाद 'शांद' होती है और वार्षिक मेले तो दोनों मन्दिरों में आयोजित किए जाते है। इसके साथ भी एक कथा जुड़ी हुई है जो इस प्रकार से है—कहते हैं कि द्वापर युग में कैलाश पर्वत से एक तपस्वी जगाद ऋषि यहां आए और यहां आकर तपस्या करने लगे। उन्हें तपस्या के दौरान एक काली-पाषाण प्रतिमा के दर्शन हुए। इससे कृत कृत्य होवे, इसी की विधिपूर्वक पूजा करने लगे। एक रात उन्हें स्वप्न में ज्ञान हुआ कि यह मूर्ति तो महादेव की है जो भाद्रपद की पंचमी को प्रकट हुई है। प्रात: ही ऋषि अपनी आंखों की दृष्टि खो बैठे और अंधे हो गए। उन्होंने महादेव की मनौती मानी तथा पुन: आंखों में दृष्टि आ जाने पर वहां पर मन्दिर का निर्माण करवाया तथा उत्सव एवम् सेवकों की नियुक्ति का प्रबन्ध भी किया। वहां पर एक झींवर प्रबन्धक होता है और सारस्वत ब्राह्मण पुजारी का कार्य करता है। परन्तु सर्वाधिक आदर सत्कार गुरु का होता है क्योंकि गुरु के माध्यम से महादेव भक्तों के प्रश्नों के उत्तर देते हैं।

बूढ़ा महादेव

बूढ़ा महादेव का मन्दिर नेत्रडेरा में स्थित है। इससे सम्बद्ध कथा बताती है कि एक बूढ़े साधक कपालदीद ने यहां कई वर्षों तक तपस्या की थी और अन्त में भूमि में समा गए थे। तभी से उन्हें 'बूढ़ा महादेव' के नाम से अभिहित किया जाने लगा। कहते हैं कि एक बार राजा परीक्षित ने यहां अपना शिविर लगाया था और अपनी दृष्टि खो बैठे थे। महादेव की बड़ी अनुनय-विनय करने पर उन्हें आदेश हुआ कि कपाल मुनि का आशीर्वाद प्राप्त करो। ऐसा ही करने पर उन्हें फिर से दृष्टि मिल गई। वहीं पर राजा ने सुन्दर मन्दिर का निर्माण करवाया जिसे कालान्तर में 'नेत्रडेरा' का मन्दिर कहा जाता है। श्रावण के अन्त से भाद्रपद की पन्द्रह तिथि तक मन्दिर में वार्षिक मेला होता है। उप पर्व चैत्र, फाल्गुन, जेठ, सावन, भादों, आश्विन और पौष में होते हैं।

विश्वेश्वर महादेव

विश्वेश्वर महादेव का मन्दिर सतलुज नदी के तट पर निरमण्ड में है। जनश्रुति है कि एक गाय प्रतिदिन घास में छिपी एक पिण्डी पर दूध की धारा चढ़ाती थी, लोगों ने

इस पिण्डी को खोजकर इसकी पूजा करना आरम्भ कर दिया और अन्ततोगत्वा वहां पर मन्दिर का निर्माण करवा दिया। इस क्षेत्र के लोग नवप्रसूता गाय का दूध और घी पिण्डी पर अर्पित करने के बाद ही प्रयोग में लाते हैं। इसी नाम का एक मन्दिर कुल्लू में बिजौरा में भी है।

बोगड़ू महादेव

बोगड़ू महादेव और हड़वा देवी का मन्दिर फटी चानूल में कई नामों से जाना जाता है। गशवाला देवड़ा, देवड़ी-देवड़ा और शिगली आदि कई नाम हैं। शिवरात्रि पर पन्द्रह दिन का, होली पर तीन दिन का, चैत्र और अश्विन में नवरात्रों में 9 तथा 12 वैशाख को, 20 तथा 25 आषाढ़ को, श्रावण की पूर्णिमा पर, 2, 4, 5 अश्विन को, 16 कार्तिक को तथा 5 प्रविष्टे माघ को मेले लगते हैं। कहते हैं कि एक कुलीन राणा शिकार की खोज में एक पर्वत की चोटी के शिखर पर जा पहुंचा। वहां उसे एक योगी गूढ़ साधना में लीन दिखाई पड़ा। समाधि टूटने पर योगी ने कहा कि 'मैं शिव हूं और शिवपुरी से आया हूं।' राणा की प्रार्थना पर वह उसके घर 'कहा' में गया और वहां जाकर योगी ने राणा को मन्दिर बनाने का आदेश दिया। जब मन्दिर बनकर तैयार हो गया तो उसने वहां बैठने से इन्कार कर दिया।

उसने वहां जेब से एक डिब्बी निकाली। जब डिब्बी को खोला तो उसमें से एक अत्यन्त सुन्दर कन्या निकली जिसका नाम 'हड़वा' था। उसकी इच्छानुसार उस देवी के लिए भी एक मन्दिर बनवाया।

कुलछत्तर महादेव

कुलक्षयोत्तर महादेव का मन्दिर परशुराम द्वारा बसाए गए ग्राम अलवा में है। क्षत्रियों के कुल का नाश करने के उपरान्त उन्होंने यह ग्राम बसाया था। कुछ ब्राह्मण परिवार यहां रहने लगे। परशुराम ने उन्हें पूजनार्थ एक धातु कलश भी दिया। इसे उन्होंने मन्दिर में प्रतिष्ठित किया। यह धरती से तीन हाथ ऊंचाई पर स्थित है।

बनाह महादेव

बनाह महादेव का मन्दिर किसी रघु नामक ठाकुर का बनाया बताया जाता है। कहते हैं कि एक अन्धा लड़का ठाकुर की गाय को नदी पर दूर तक चराने के लिए जाता था। वहां पर एक सर्प कई दिनों तक ठाकुर की गाय का दूध पीता रहा। एक दिन लड़का नदी के दूसरे तट पर पहुंच गया। वहां जाते ही उसे यह दिखाई दिया कि सर्प गाय का दूध पी रहा है। अन्धे लड़के ने सारी कहानी घर आकर ठाकुर को सुना दी। ठाकुर दूसरे दिन उसी स्थान पर पहुंच गया। उसने सर्प खोज लिया किन्तु सर्प शीघ्र ही भूमि में अदृश्य हो गया और वहां एक धातु प्रतिमा उभर आई। प्रतिमा ने बताया कि वह महादेव हैं। तब ठाकुर ने वहां एक मन्दिर का निर्माण करवाकर उसमें धातु की प्रतिमा को प्रतिष्ठापित करवाया। यहां का पुजारी गौड़ ब्राह्मण होता है। चालीस वर्ष

बाद 'भूण्डा' और बारह वर्ष बाद 'शांद' पर्व होता है। वार्षिक मेले प्रथम वैशाख और 'दीपावली' पर लगते हैं।

कुल्लू जनपद में शिव मन्दिर

कुल्लू में भी शिव के अनेक मन्दिर हैं। अकेले कुल्लू नगर में ही शिव के प्राय: दस प्राचीन मन्दिर हैं तथा उनके बिजली महादेव लरैंण, मंगलीश्वर आदि विभिन्न नाम है। 'देवता महादेव' का मन्दिर चोहकीडेरा में है। यहां माघ की शुक्ला नवमी को मेला लगता है। 'देवता बिजली महादेव' का मन्दिर मलथान डेरे में है। एक चैत्र, एक आषाढ़, एक से सात अश्विन, एक से पांच वैशाख तथा 18 व 19 प्रविष्टे को मेला लगता है। 'देवता गौरी शंकर महादेव' का मन्दिर दवाला, आशाल और बौगार में है। यहां शिवरात्रि पर दो दिवसीय मेले का आयोजन किया जाता है। 'देवता जवाणू महादेव' का मन्दिर जवाणू महादेव डेरा में है। प्रथम व द्वितीय चैत्र मास को मेला होता है। 'देवता लरैंन महादेव' का मन्दिर डेरा लरैंन में है। फाल्गुण में, दो चैत्र को, एक वैशाख को, एक ज्येष्ठ, एक भादों, एक अश्विन तथा जन्मअष्टमी पर मेला होता है। 'देवता मंगलीश्वर महादेव' का मन्दिर छांवर डेरा में है। यहां प्रतिवर्ष छह वैशाख को मेला लगता है। हर दूसरे साल एक से चार प्रविष्टे श्रावण मास में यज्ञ होता है। 'नीलकंठ महादेव' के मन्दिर में शिवरात्रि तथा फाल्गुण कृष्ण चतुर्थी को मेला होता है। प्रथम से चतुर्थ ज्येष्ठ तक काली पूजा होती है। 'संगम महादेव' का मन्दिर भी कुल्लू में ही बताया जाता है। नियोजित मेला तो यहां कोई नहीं होता सिर्फ दो पर्व 'ताराराात्रि' तथा 'शिवरात्रि' मनाए जाते हैं। 'देवता सियाली महादेव' और 'देवता शिवरहारक' के मन्दिर भी कुल्लू जनपद में स्थित हैं।

कुल्लू जनपद का भूण्डा उत्सव

बाहरी सराज निरमण्ड सतलुज तट पर स्थित है। यहां देवी 'अम्बिका' का पूजन विशिष्ट रूप से प्रचलित है। हर तीन वर्ष पश्चात् इसी उपलक्ष्य में मेला लगता है और बारह वर्ष बाद एक महत्त्वपूर्ण मेले का आयोजन किया जाता है जिसे स्थानीय बोली में 'भूण्डा' कहा जाता है। भूण्डा-उत्सव का निरमण्ड जनपद में विशिष्ट स्थान है।

भूण्डा-उत्सव की परम्परा

इसकी परम्परा बहुत प्राचीन है। आर्षकाल में तीन प्रकार के बलि यज्ञ होते थे। वे थे—नरमेध, गोमेध तथा अश्वमेध। इनमें क्रमश: नर, गौ व अश्व की बलि दी जाती थी। इन्हें 'महायज्ञ' भी कहा जाता था और इन्हें वही पराक्रमी लोग किया करते थे जिन्होंने सम्पूर्ण राष्ट्र को जीत लिया होता था। महायज्ञ में ख्यातिप्राप्त ऋषि एकत्र हो यज्ञ करते थे तथा अन्त में मानव या पशु की बलि दी जाती थी। 'जीव बलि' देवता विशेष के प्रति दी जाती थी। तदुपरान्त नर, गौ या अश्व को अग्न्यर्पित कर दिया जाता था तथा उसकी अस्थियां एकत्र कर ली जाती थीं। विश्वास किया जाता है कि उन ऋषि-मुनियों के मन्त्रों में इतनी शक्ति होती थी कि मृतक जीव पुन: जीवित हो उठता था। विचारकों का मत है कि यह एक वैदिक अनुष्ठान होता था। तन्त्र आदि विद्या से इसका कोई सम्बन्ध नहीं था। जब उन ऋषि-मुनियों का काल बीत गया तो नर-बलि के स्थान पर बकरे आदि की बलि देने की प्रथा चल पड़ी और मनुष्य को रस्सी के सहारे उतरने के लिए छोड़ देने की परिपाटी भी। वह जिए या मरे, यह उसके भाग्य पर निर्भर करता था। अस्तु, भूण्डा बल्योत्सव प्राचीन 'नरमेध' का ही रूपान्तर है तथा रीति-पद्धति भी मुख्यरूपेण वही है।

भूण्डा-उत्सव को मनाने का कारण

निरमण्ड जनपद में इस उत्सव को मनाने का भी कारण बताया जाता है। कहते हैं कि एक बार ऋषि जमदग्नि किसी कारण अपनी पत्नी अम्बिका से अप्रसन्न हो गए। उन्होंने अपने पुत्र परशुराम को आज्ञा दी कि वह उसे खूब पीटे। परशुराम ने अपने पिता की आज्ञा का पालन तो किया किन्तु साथ ही माता को पीटने का प्रायश्चित भी किया

आर निरमण्ड के ब्राह्मणों को प्रचुर भूमि दान में दे दी। ब्राह्मणों ने इस भू-भाग की आय का दशमांश भूण्डा-उत्सव पर लगाने का वचन दिया। भूण्डा नामकरण के दो कारण बताए जाते हैं--एक कारण यह बताया जाता है कि किसी समय 'बेडा' जाति के व्यक्तियों को ही रस्सी पर जाने का कार्य सौंपा गया था, इसी से 'भूण्डा' नाम पड़ गया। दूसरे मतानुसार भण्डार अर्थात् मन्दिर का धनधान्य रखने का स्थान इस उत्सव में महत्त्वपूर्ण स्थल रहता है, अतः भण्डार से 'भूण्डा' शब्द का प्रचलन हो गया। निरमण्ड में तो यह उत्सव निश्चित समय अर्थात् गंगा नदी पर कुम्भ मेले के साथ-साथ बारह वर्ष बाद ही आयोजित किया जाता है। अन्य स्थानों पर इसके लिए पर्याप्त धन संचित होने पर मेले का आयोजन होता है।

दो भूण्डाओं के मध्यान्तर में निरमण्ड में प्रति तीन वर्ष बाद छोटे-छोटे यज्ञ होते रहते हैं। प्रथम तीन वर्ष बाद भरोजी, द्वितीय तीन वर्ष बाद भानपुर और तृतीय तीन वर्षोपरान्त 'शान्द' यज्ञ होता है। इन तीनों यज्ञों में कई देवता भी भाग लेने के लिए आते हैं; परन्तु इनका परशुराम या भूण्डा से अधिक सम्बन्ध नहीं है। इसमें 'बेडा' को रस्सी से नहीं उतारा जाता।

भूण्डा-उत्सव के मनाए जाने का कार्यक्रम

बारह वर्ष बाद मनाए जाने वाले भूण्डा का कार्यक्रम पर्व से लगभग अढ़ाई मास पूर्व ही आरम्भ हो जाता है। शुभ मुहूर्त में 'बेडा' गीत-संगीत के साथ वन को जाता है और वहां जाकर घास काटता है। इसे काटते समय वह पूर्णरूप से पवित्र बना रहता है। पूर्ण शुद्ध होकर वह उसकी उचित लम्बाई की रज्जु स्वयं ही तैयार करता है और उसे मन्दिर में रख देता है। यदि कोई व्यक्ति इस रज्जु को लांघ जाए या किसी अन्य असावधानी से इसे अपवित्र कर दे, तो उसे एक बकरी के रूप में जुर्माना भरना होता है। यह जीव देवता की बलि पर चढ़ा दिया जाता है तथा रज्जु भी पुनः नयी बनानी पड़ती है। रज्जु को देवतुल्य माना जाता है। मेले के दिन लोग बड़ी श्रद्धा से सिर पर रखकर इसे पर्वत की चोटी तक ले जाते हैं। प्रत्येक चरण पर अजबलि दी जाती है। रस्सी पर्वत की चोटी से बांध दी जाती है और 'बेडा' को इस पर बिठा दिया जाता है। अन्य जातियों का कोई भी पुरुष इस पर बैठने का अधिकारी नहीं होता। 'बेडा' रज्जु पर बैठने में गर्व भी अनुभव करता है। इससे इनकार करना उसके लिए लज्जास्पद होता है। चार ब्राह्मण निरन्तर मन्दिर में जाप तथा फल, चावल, घी तथा अज-मांस की आहुतियां देकर हवन करते रहते हैं। मन्दिर में काली की मूर्ति प्रतिष्ठित होती है और एक काली की पीतल की प्रतिमा 'नाभिकुण्ड' कहलाने वाले हवनकुण्ड के समीप रखी रहती है। यह नाभिकुण्ड 'भूण्डा-उत्सव' पर ही खोला जाता है। यह एक बड़ी शिला से ढका रहता है और इसी शिला पर बलियां दी जाती है। मेले से पहले ही देवताओं को आमन्त्रित किया जाता है। देवताओं की मूर्तियां तो नहीं अपितु उनके रजतकलश ही यहां आते हैं। खानमहल (सुकेत), नूतनगर (रामपुर) और निरमण्ड (कुल्लू) के देवताओं का आगमन नितान्त

अनिवार्य है। इनके अतिरिक्त लाग्माह, दांदसाह, सनीर और सांगला (रामपुर) आदि भी देवताओं के रूप में इस मेले में उपस्थित होते हैं।

एक निश्चित दिन, जिसे 'छिल बिछली' कहते हैं, उस दिन ब्राह्मण मन्दिर के बाहर सिन्दूर से देवदारू वृक्ष का चित्रांकन करता है। पर्व को आरम्भ करने वाले देवता की पूजार्चना की जाती है। यहां नकली युद्ध का प्रदर्शन भी होता है। सभी देवताओं के कलश एकत्र कर उनकी पूजा की जाती है और पूजन के पश्चात उन्हें मन्दिर के 'भण्डारागार' में विश्राम करने के लिए ले जाया जाता है। यहां श्वेत रंग का शिवरथ तथा सिन्दूर का देवदारू चित्रित रहता है। एक थाली भर चावल और उनके ऊपर रेशमी कपड़े में लिपटा नारियल भी यहां रखा रहता है। कलशों को शिवजी के रथ के चारों ओर रखा जाता है। लोगों को मन्दिर के भण्डार से थोड़ा-थोड़ा अन्न दिया जाता है जिसे 'छमचनी' (निमन्त्रण) कहा जाता है। अगले दिन देवता का 'गुर' देवता को लेकर आता है। लोग रोटियां पकाते हैं और ग्राम भर में उसकी पूजा करते हुए घूमते हैं। इसे 'असटफेर' कहा जाता है। इसके बाद बकरे, भेड़े और सूअर की बलि दी जाती है और एक बार पुनः नकली युद्ध होता है। जब लोगों की गांव परिक्रमा समाप्त हो जाए तो मन्दिर की कोठी में कई भेड़-बकरियों का वध कर दिया जाता है।

तीसरे दिन रज्जु (जिसे देवता भी माना जाता है) की पूजा होती है और इसे भी भेड़-बकरियों की बलि चढ़ाई जाती है, तब रस्सी को पर्वत शिखा से बांध देते हैं और उसका दूसरा सिरा घाटी में नीचे लटका देते हैं। 'बेडा' स्नान करके जब मन्दिर में आता है तो उसे बलि कुण्ड के पास ले जाकर ब्राह्मण उसकी पूजा करता है। उस समय उसकी देवता के रूप में पूजा होती है। उसके मुख में 'पंचरत्न' डाले जाते हैं और उसे पगड़ी-कुर्त्ता पहनाए जाते हैं। उसे डोली में बिठाकर मन्दिर से बाहर लाते हैं। कुछ दूरी तक मन्दिर का प्रबन्धक भी उसे अपनी पीठ पर बिठाकर ले जाता है। 'बेडा' लोगों को उपहार बांटता चलता है। उधर रस्सी के नीचे बैठी उसकी पत्नी और बच्चे विलाप करते हैं। रस्सी के ऊपर शिखर पर चार 'कुम्भ' (घड़े) रखे जाते हैं। रस्सी पर एक काठी (झूला) रख दी जाती है और 'बेडा' जाकर उस पर बैठ जाता है। लोग उसे दृढ़तापूर्वक रस्सी के साथ बांध देते हैं। उसकी दोनों टांगों पर समान भार की रेत-मिट्टी भी बांधते हैं और दूसरी रस्सी के सहारे उसे धीरे-धीरे नीचे जाने देते हैं, साथ ही उसकी संतुलित अवस्था भी जांच लेते हैं। उसके सिर पर एक रूमाल और हाथ में कुछ जौ बांधते हैं, तब अतिरिक्त रस्सी को काट दिया जाता है और बेडा तेजी से नीचे फिसल जाता है। नीचे खड़े लोग उसे सम्भाल लेते है तथा उसे ऊपर ले आते हैं। 'बेडा' और उसकी पत्नी लोगों से याचना करते हैं। जिस वस्तु को वे छू लेते हैं उसे वही ग्रहण करते हैं। तब उन्हें मन्दिर में लाया जाता है। तब उन्हें 84 रुपए तथा आभूषण आदि भेंट किए जाते हैं। उनकी परिक्रमा करते हुए लोग अढ़ाई चक्र नृत्य करते हुए काटते हैं और उन्हें विदा कर देते हैं। चौथे दिन मन्दिर की ओर से देवताओं तथा श्रद्धालुओं को

भेंटें दी जाती है। इन्हें विदाई (बिआई) जग कहते हैं। इसके बाद मेला समाप्त हो जाता है।

निरमण्ड भूण्डा-पर्व का प्रमुख स्थान है। परन्तु निथर, दलाश धमसा तथा सतलुज के किनारे ऊंचे बसे हुए कुछ स्थानों पर भी भूण्डा-मेला कभी-कभी आयोजित होता रहत। है।

कुल्लू जनपद का भूण्डा उत्सव भारत की प्राचीन यज्ञ प्रथा का प्रतीक है। कालान्तर में तांत्रिक प्रभाव के कारण इसमें बलि प्रथा का भी समावेश हो गया। कुल्लू के जनमानस में इस कुम्भ पर्व के प्रति महती श्रद्धा है।

कांगड़ा के बालशंकर : भगवान् बाबा बालक रूपी

परम ब्रह्म महेश की अनादि शक्ति की विचित्र लीलायें मानव-मन पर एक अद्भुत प्रभाव डाला करती हैं। ये लीलायें ही हमारे सामने अनेक रूपों में उपस्थित होती हैं। प्रातः प्राची में उदीयमान भगवान् भास्कर तथा सायं होते ही निशा देवी के स्वागतार्थ अपनी सुधा रश्मियों से अमृत-कण बिखेरता सुधांशु जब उपस्थित होता है तो मानव के अन्तर्मन में एक विचित्र कौतुक की सृष्टि होती है। अनन्त गगन मण्डल पर उमड़ती-उमड़ती घन घटाएं, दामिनी की दमक, मेघों का घर्षण कभी झंझावत तो कभी अतिवृष्टि, जलाप्लावन आदि भयावह दृश्य जन मानस पर भय मिश्रित जिज्ञासा का अन्तर्द्वन्द्व-सा पैदा करते हैं और यह विश्वास होता है कि इन सबके पीछे कोई संचालक शक्ति अवश्य है। परेश की पराशक्ति की ये अद्भुत लीलाएं हैं, इन्हीं को देख, सुन और अनुभूत करने के उपरान्त विविध देवकल्पना को आधार मिला।

ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इन त्रिदेवों में भगवान् भूतभावन शिव संहार शक्ति के अधिष्ठाता माने जाते हैं। अतएव अकालिकमृत्यु, रोग-शोक, निवारण एवं नैरुज्य प्राप्ति हेतु श्रद्धालु आशुतोष की शरण में जाकर परित्राण पाता है। हिमालय के आंचल में स्थित हिमाचल प्रदेश में तो शिव का प्रत्यक्ष वास है, हिमालय (हिमाचल) इनका श्वसुरालय है। श्वसुरालय किस को प्रिय नहीं ? पर्वततनया उमा हैमवती उनकी प्रिया अर्धांगिनी है। हिमाचल शिव को अतिप्रिय अतएव हिमाचलवासी शिव और शक्ति के उपासक हैं। कांगड़ा जनपद का राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अपना गौरवमय अतीत रहा है। मन्दिर यहां की धरोहर है। इन मन्दिरों के निर्माण में जहां-जहां भी धर्म प्राण जनता का सहयोग रहा है वहां प्राचीनतम कटोचवंश की अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस राजवंश के प्रश्रय में अनेक मन्दिरों का समय-समय पर निर्माण हुआ इसके साथ ही निर्माण के पीछे अनेक घटनायें, किम्वदन्तियां जुड़ी हुई हैं जिनसे यहां के लोक-जीवन की झांकी मिलती है। यहां के अनेक धार्मिक कृत्य, संस्कार व प्रसन्नता के अवसर तब तक सम्पन्न नहीं माने जाते हैं, जब तक इन मन्दिरों में स्थापित विशिष्ट देव की मनौती नहीं मानी जाती है। हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जन पद में भगवान् बालशंकर

का बालक रूपी मन्दिर अति प्रसिद्ध है। यहां के जन मानस में इस मन्दिर का विशिष्ट स्थान है। मूर्ति के प्रादुर्भाव मन्दिर के निर्माण तथा नन्दीगण की स्थापना के पीछे भी महत्त्वपूर्ण घटनाएं जुड़ी हैं। बल प्राप्ति के लिए तथा आजीवन बालक रूप में ही जीवन-यापन हेतु भी साधक इसकी पूजा-अर्चना करते रहे हैं।

यह मन्दिर सुजानपुर टीहरा से व्यास नदी का पुल पार करने पर पांच किलो-मीटर की दूरी पर जिला कांगड़ा की पालमपुर तहसील में स्थित है। मन्दिर के निर्माण के साथ कथा इस प्रकार है :

गणेश नामक ब्राह्मण, जो जसवाल राजाओं का पुरोहित था, ने अपना पद त्याग दिया और वह धार बालकपुरी में रहने लगा। कुछ समय के बाद वह वहां से हार नामक स्थान को चला गया जहां आजकल बालक रूपी का मन्दिर स्थित है। एक दिन उसका पौत्र जोगू जिसकी आयु दस-बारह वर्ष की थी, अपने कंधे पर हल रखकर खेती करने जा रहा था। मार्ग में उसे एक गोसाईं युवक मिला, उसने कहा कि क्या वह उसका सेवक बनना स्वीकार करेगा। जोगू ने सेवकाई स्वीकार कर ली। गोसाईं ने इस घटना को सुगुप्त रखने का निर्देश दिया।

गोसाईं से विदा लेकर जोगू अपने खेतों में पहुंचा। वहां अनेक लोग खेती के काम में लगे थे। जोगू नाचने लगा और बोला मेरा हल कहां है ? वहां स्थित लोगों ने कहा—जोगू, तुम क्यों पगला गए हो ? हल तो तुम्हारे कन्धे पर ही है। जोगू ने उन्हें सारा घटित वृतान्त कह सुनाया। कहते-कहते ही वह पुन: विक्षिप्त हो गया। यह सब देखकर पुरोहित गणेश ने सोचा कि जोगू किसी जादू टोने के मन्त्र से अभिभूत है। वह कुछ सूत के धागे साथ लेकर कंथरनाथ नामक एक गोसाईं के पास गया। गोसाईं ने उन धागों को हाथ से पकड़कर फूंक मारी और जोगू को पहना दिया उन्हें पहनकर जोगू अंशत: स्वस्थ हो गया। कंथरनाथ ने पुरोहित गणेश को परामर्श दिया कि जोगू को गंजार ग्रामवासी महात्मा लाल पुरी के पास ले जाए। उसने ऐसा ही किया। लालपुरी ने आज्ञा दी कि तुम घर चलो, मैं आता हूं। बाबा जी ने यह रहस्य भी स्पष्ट किया कि विक्षिप्त बालक को जो गोसाईं मिला था, वे महात्मा बालक रूपी थे। उसे वचन भंग का कुफल मिला है। गणेश अपने घर वापिस पहुंचा, परन्तु बाबा लालपुरी पहले ही उसके घर पहुंच चुके थे।

तदनन्तर जोगी कंथरनाथ तथा बाबा लालपुरी दोनों ने बाबा बालक रूपी की खोज आरम्भ कर दी। जहां आज बालक रूपी का मन्दिर है वहां उन दिनों पहले गूगा का मन्दिर था। पास ही एक गुलाब की झाड़ी थी। बाबा लालपुरी ने गणेश पुरोहित को झाड़ी काटने तथा उसके नीचे की जमीन खोदने की आज्ञा दी। जब उस जमीन को खोदा गया तो चार-पांच हाथ गहरा खोदने पर उसे वहां एक पिण्डी (पिण्डाकार लम्बा प्रस्तर खण्ड) मिली। कस्सी के उस पिण्डी से टकराते ही खून की धारा फूट पड़ी, पूरा गढ़ा खून से भर गया। कुछ समय बाद रक्त की धारा स्वयंमेव बन्द हो गई और दूध की धारा बहने लगी। इसके बाद केसरिया रंग की धारा बहने लगी। तदुपरान्त एक

ज्योति प्रस्फुटित हुई और अन्त में जल धारा निःसृत हुई। यह अद्भुत दर्शो चमत्कार था। कस्सी का चिन्ह तो आज भी पिण्डी पर विद्यमान है।

बाबा लालपुरी ने बताया कि ये सब चिन्ह बाबा बालक रूपी के हैं। बाबा जी ने उस पिण्डी को नियोगल खड्ड में स्नान कराया तो पुनः उससे दुग्ध धारा निकलने लगी। वे उस मूर्ति (पिण्डी) को पहले स्थान की ओर ले चले। सहसा वह मूर्ति पालकी में से उठकर भूचर (मुच्चर) कुण्ड में लुप्त हो गई। यह कुण्ड मन्दिर के समीप सड़क के किनारे स्थित है।

बाबा लालपुरी तथा कन्थरनाथ उस पिण्डी को ढूंढ़कर (कथान्तर से आकाश-वाणी के सहयोग से ढूंढ़कर) उसे उसके प्रथम प्रादुर्भाव के स्थान पर ले गए। दोनों ने इसे ढूंढा था, परन्तु उसी रात को बाबा लालपुरी को स्वप्न में आदेश मिला कि गूगा का मन्दिर भू सात कर दिया जाए। इसकी सामग्री को या तो नियोगल खड्ड में जल प्रवाह कर दिया जाए या उसी स्थान पर बनने वाले बाबा बालक रूपी के नए मन्दिर के निर्माण में प्रयुक्त कर लिया जाए। यहां इस घटना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गूगा विचार-धारा और बालक रूपीबाबा बालकपुरी में विचारधारा में वैमनस्य रहा होगा। अतएव निर्दिष्ट स्थान पर मूर्ति की स्थापना कर दी गई। यह भी व्यवस्था कर दी कि जोगू के ज्येष्ठ पुत्र तथा उसके उत्तराधिकारी इस मूर्ति की पूजा अर्चना के अधिकारी होंगे। मन्दिर के बाह्य कार्य कलाप को जोगी कंथरनाथ के वंशज किया करेंगे।

नन्दीगण

यहां एक विशाल काय, ताम्रमयी नन्दीगण की मूर्ति है। इसके साथ एक लोक-गाथा प्रसिद्ध है। एक बार एक 'पटयाल' राजपूत जाति की अठारह-बीस वर्षीय कन्या को उसकी भाभी कथान्तर से विमाता ने ढोर चराने को कहा। उस लड़की ने इन्कार कर दिया। तब उसकी भाभी या विमाता ने कहा - हां, पशु चराना तो तेरी शान के विरुद्ध है, क्योंकि तुम तो रानी हो, निश्चिन्त रहो, तुम्हें कोई राजा ब्याहने नहीं आएगा। व्यंग विद्धा कन्या पशुओं के साथ वन को चली गई।

उन दिनों बाबा बालक रूपी पुनः प्रकट हो चुके थे। विमाता के वागवाणों से आहत वह कन्या वन में पशु भी चराया करती तथा बाल शंकर भगवान् से प्रार्थना भी किया करती 'यदि मेरा विवाह राजा से नहीं हुआ, तो मैं तुझे असली बाबा बालक रूपी नहीं मानूंगी और यदि मेरी अभिलाषा पूर्ण हुई तो तेरे मन्दिर में तांबे का बैल भेंट करूंगी। सर्वव्यापक, भगवान् आर्त की पुकार अवश्यमेव अतिशीघ्र सुनते हैं। पांच-सात दिन भी न बीते थे कि संयोगवश कटोच्चवंशीय राजा अभय चन्द शिकार खेलते हुए उसी जंगल से गुजरे जहां वह कन्या पशु चरा रही थी। उस लड़की के सौंदर्य पर मुग्ध होकर राजा ने अपने अनुचरों को कहा कि यह कन्या मेरे योग्य है। इसका विवाह मेरे साथ होना चाहिए। अनुचरों ने विवाह का प्रस्ताव कन्या के सम्बन्धियों के आगे रखा। वे मान गए। अब वह कन्या बालशंकर भगवान् की कृपा से अभयचन्द के महलों की रानी

बन गई। दुर्भाग्यवश वह लड़की (अभय चन्द की रानी) अपनी प्रतिज्ञा को भूल गई। थोड़े ही दिनों के बाद अन्तःपुर की रानियां किसी अज्ञात शक्ति से अभिभूत होकर खेलने (सिर तथा अन्य अंगों को हिलाने) लगीं। यह क्रम दिन-रात सतत चलता रहता। राजा ने उपचार के लिए तांत्रिक साधुओं और चेलों को बुलाया। उनमें से एक ने रोग का कारण जानकर कहा कि बाबा बालक रूपी की मनौती पूरी नहीं की गई है। राजा ने प्रतिज्ञा की कि अगर मेरा समस्त परिवार स्वस्थ हो जाएगा तो मैं सारे परिवार के साथ मन्दिर में पहुंचुंगा। तब उस चेले ने बाबा बालक रूपी के नाम पर एक धागा बनाया (अभिमंत्रित किया) उस धागे को उन उन्मत रानियों के गले में डाल दिया। वे अंशतः स्वस्थ होती-होती पूर्णतः स्वस्थ हो गईं। यह सब कुछ जेठ मास के शनिवार को घटित हुआ था। तदुपरान्त एक तांबे का बैल बनवाया गया तथा बैल का मंदिर भी। सुनते हैं कि जब इस मूर्ति की प्राण प्रतिष्ठा हुई तो मूर्तिकार तुरन्त ही स्वर्ग सिधार गया।

जब कभी कटोच्च वंश पर कोई आपत्ति आने वाली होती थी तो यह बैल भयाक्रान्त-सा हो जाता था। 29 आषाढ़ सम्वत् 1902 को ऐसा हुआ और 15 श्रावण को राजा प्रताप चन्द की मृत्यु हो गई थी। उस दिन तो बाबा बालक रूपी की मूर्ति भी स्वेद-स्नात हो गई थी। इन्हीं कारणों से वृषभ की पूजा होती है तथा मनौती मानी जाती है। ज्येष्ठ एवं आषाढ़ के शनिवारों के दिन बालक रूपी में विशेष मेले लगते हैं। जिन्होंने बकरा चढ़ाने की मनौती मानी होती है वे जीवित बकरा समर्पित कर देते हैं। परन्तु जिन्होंने बलि देनी स्वीकार की होती है वे मन्दिर के पास नियत स्थान पर बकरे की बलि भी देते रहे हैं। यह बलि नियोगल कुंड पर दी जाती थी।

मुण्डन संकार प्रायः बालक रूपी मंदिर में सम्पन्न होता है। केश मंदिर में चढ़ा दिए जाते हैं। कुछ लोग अपने नवजात शिशुओं को भी चढ़ा देते हैं तथा कुछ धन देकर पुनः खरीद लेते हैं। इसके अतिरिक्त धन, घी, दही, छत्र-नारियल आदि भी चढ़ाये जाते हैं। यह भण्डार में रखे जाते हैं। मंदिर के आसपास 15-20 कोस क्षेत्र के वासी तब तक नया अन्न नहीं खाते जब तक इसमें से कुछ बालक रूपी मंदिर में न चढ़ा दें। यहां महादेव की प्रतिमा स्थापित है।

बाबा बालक रूपी का माहात्म्य जालन्धर पीठ दीपिका में परम साधक प्रह्लादानन्दाचार्य कुलावधूत ने भी वर्णित किया हैं। तदनुसार "साधक यात्री बाल रूप सदा शिव के स्थान पर पहुंचकर विविध नैवेद्यों तथा उपचारों से बाल शंकर की पूजा करें। इस प्रकार करने से साधक को आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती है। वह सदा बाल रूप में ही स्वस्थ व नीरूज रहता है। मन्दिर के पास ही प्रवह मान न्युगल नदी में स्नान व पितरों का तर्पण करने से उसके पितृगण भव बन्धन से मुक्त हो जाते हैं। ब्राह्मण को स्वर्ण तथा दूध देने वाली गाय का दान करना चाहिए। कन्या, बालक और ब्राह्मणों को विविध रस युक्त भोजन खिलाकर दक्षिणा देनी चाहिए।" जालन्धर पीठ दीपिका, 5, 7-11।

बालक रूपी का एक मंदिर नगरोटा में भी है, परन्तु वहां कोई मेला नहीं लगता

है। यह मंदिर बारह-तेरह पीढ़ियों से चलाया जा रहा है। यहां महादेव की चार अंगुल ऊंची प्रतिमा स्थापित है। पुरी जातीय गोसाईं इसका प्रबन्ध करते आ रहे हैं। गोसाईं विवाह कर सकते हैं, परन्तु उत्तराधिकार चेले को मिलता है। यहां प्रातः व सायं पूजा होती है। प्रातः भुने चने तथा सायं रोटी का भोग लगता है। रात्रि को आरती होती है। पवित्र ज्योति जलाई जाती है।

मण्डी में बालक रूपी का वर्णन एक अन्य शिवालय के रूप में करते हैं। यह वंगहाल में स्थित है। इसे सर्वरोग हर्ता देव माना जाता है। इसकी पूजा मृत्युंजय—मौत को जीतने वाला—के रूप में भी की जाती है। उसकी एक समाधि जो कि सिद्ध के रूप में है कामला में है तथा अन्य छोटी स्थापना हटली में भी है। ये दोनों ही निरामयता हेतु पूजी जाती हैं।

बाबा बालक रूपी एवं बाबा बालक नाथ दोनों आपस में सर्वथा भिन्न हैं। अतः यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि महादेव मतवाद का अनेक रूपों में प्रचार व प्रसार होता रहा है। जो आम जन-जीवन में बद्ध मूल है।

कांगड़ा में रली-पूजन

चैत्र मास की अपनी विशेषता है। इसी मास से विक्रमी सम्वत् का शुभारम्भ होता है। इस मास में एक ओर जहां कन्यायें हिमाचल प्रदेश के कुछ भागों में 'रली-पूजन' के रूप में गौरी का पूजन करती हैं तो वहां दूसरी ओर भारत के उत्तरी भाग में नव-संवत्सर के आरम्भ में चैत्र शुक्ल तृतीया को 'गौरी तृतीया' के रूप में भी मनाया जाता है। इस अवसर पर कन्याओं को विशेष प्रकार के पक्वान्न खिलाए जाते हैं, गंध, अक्षत और पुष्पों से उनकी पूजा की जाती है। भोज में निमंत्रित ब्राह्मणों की तरह उन्हें दक्षिणा भी दी जाती है। एक विशेष धार्मिक रीति के अनुसार कन्यायें मिट्टी की मूर्ति बनाती हैं, उसे सुन्दर वस्त्रों व आभूषणों से सुसज्जित कर उसका विवाह करवाती हैं। विवाह सम्पन्न होने पर उसे कुएं या गहरे पानी में विसर्जित कर देती हैं। हिमाचल प्रदेश के कांगड़ा जनपद में यही रीति 'रली-पूजन' के नाम से जानी जाती हैं। लड़कियां शिव-पार्वती की मूर्तियां बनाती हैं। उनके विवाह का आयोजन करती हैं और तब उन्हें तालाब या नदी में प्रवाहित कर देती हैं।

रली-पूजन चैत्रमास की संक्रान्ति से आरम्भ होकर बैशाख की सक्रान्ति तक चलता है और परम्परागत ढंग से एक नवोढ़ा की आत्म हत्या की स्मृति में इसे मनाया जाता है जिसका विवाह अपने से अधिक छोटी आयु वाले लड़के के साथ कर दिया गया था। परन्तु इसका भिन्न स्पष्टीकरण भी है। शिव और पार्वती को वनस्पति का देवता माना जाता है और उनकी मूर्तियां फूलों और घास के ढेर पर शाखाओं पर रखी जाती हैं क्योंकि शिव वनचारी हैं, वनस्पतियों में देव हैं।

लड़कियों द्वारा रली पूजा

कांगड़ा जनपद में एक लोक विश्वास है कि जो लड़कियां 'रली-पूजन' करती हैं उन्हें मनवांछित घर और वर प्राप्त होता है। 'रली-पूजन' की आरम्भिक आस्था चाहे कुछ भी रही हो, परन्तु इस समय गौरी और शंकर की मूर्ति समझ कर 'रली-पूजन' किया जाता है। भारतीय संस्कृति की यह महती विशेषता है कि यहां प्रत्येक नर शिवत्व पाने तथा कन्या शक्ति स्वरूपा गौरी के माध्यम से पराशक्ति तत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती है। फिर द्वादश भोजन पर्यन्त विस्तृत 'जालन्धर पीठ' में शक्ति तो प्रत्यक्ष फल-

दायिनी मानी जाती है।

इस प्राचीन तथा महत्वपूर्ण परम्परा के पीछे अवधारणा इस प्रकार से है—एक बार किसी ब्राह्मण ने अपनी जवान लड़की का विवाह बहुत कम आयु के लड़के के साथ कर दिया। विवाह सम्पन्न होने पर जब उसे डोली में बिठाकर ससुराल के घर भेजने की तैयारी आरम्भ हुई तो उसे वास्तविकता का आभास हुआ। उस समय वह बड़ी दुःखी हुई किन्तु विवश थी। अपने भाग्य को कोसने के अतिरिक्त उसके पास और कोई विकल्प न था। जब उसकी डोली मार्ग में नदी के किनारे पहुंची तो उसने डोली उठाने वाले कहारों से डोली को जमीन पर रखने का आग्रह किया। जब कहारों ने डोली को जमीन पर रख दिया तो वह डोली से निकल कर बाहर आई और अपने भाई वस्तु से कहने लगी—वस्तु भाई मेरे भाग्य में बाल शंकर (बच्चे) के साथ विवाह होना लिखा था, सो वह हो गया। अब मैं एक क्षण भी और नहीं जीना चाहती। मेरे मरने के पश्चात् भविष्य में मेरी यादगार में लड़कियां मिट्टी की तीन मूर्तिया—मेरी (रली), मेरे पतिदेव (बाल शंकर) और तुम्हारी (वस्तु भाई) बनाकर प्रति वर्ष सारे चैत्र मास में इनकी पूजा करें। फिर प्रथम बैसाख को जैसा मेरा विवाह हुआ था, वे इन मूर्तियों का विवाह करे और उसके दूसरे तीसरे दिन इन मूर्तियों को सुन्दर कपड़े और आभूषण पहनाकर नदी तट पर ले जाकर नदी के गहरे जल में प्रवाहित कर दिया जाए। ऐसा करने से उन्हें जो आशीर्वाद प्राप्त होगा, वह यह है कि रली-पूजन वाली प्रत्येक लड़की को मेरी तरह अयोग्य वर नहीं मिलेगा।

इतना कहकर उसने नदी में छलांग लगा दी और उसके वियोग में दुःखी होकर उसके पति व भाई भी उसका अनुसरण करते नदी में कूद पड़े और पानी में डूब गये। उस समय से रली, बाल शंकर और वस्तु की पूजा समस्त त्रिगर्त प्रदेश में प्रचलित हो गई है। तभी से रली के सम्मान में कांगडा के प्रमुख स्थानों—बैजनाथ, डाढ, धर्मशाला, कालेश्वर, नादौन, त्रिलोकलेसर तथा धर्मशाला के समीपवर्ती स्थान चढ़ी में रली मेले का आयोजन बैसाख की संक्रान्ति को बड़ी धूमधाम से मनाया जाता है। रली के सम्मान में अविवाहित लड़कियां बहुत से गाने गाती हैं व मूर्तियों को जंगली फूलों से सजाती है।

लड़कियां चैत्रमास के पहले दिन से ही प्रातः उठकर भजन-कीर्तन और रली जीवन विषयक गीतों को गाती हुई कुएं, बौड़ी या नदी में स्नान करने के लिए जाती हैं, वहां से लौटती हुई अपने बांस के बने हुए छोटे-छोटे छक्कुओं में गुलाब और बसूटी आदि के फूल चुनकर लाती हैं और उनका उस घर में ढेर लगा देती हैं जहां उन मूर्तियों को स्थापित किया गया होता है। चैत्र मास के प्रथम, द्वितीय और चौथे सोमवार को व्रत रखती हैं।

रली का प्रारूप

रली मिट्टी की एक छोटी-सी शिव व पार्वती की प्रतीक मूर्तियां होती हैं। चैत्रमास के पहले पन्द्रह दिन तक छोटी रली की पूजा की जाती है और बाद में किसी चितेरे

कारीगर या कुम्हार से रली, बालशंकर और वस्तु की बड़ी-बड़ी सुन्दर मूर्तियां बनवाई जाती हैं। कई लड़कियां इन्हें स्वयं भी बना लेती हैं। इन मूर्तियों के लिए मिट्टी एकत्रित करने में सारी कन्यायें हाथ बंटाती हैं क्योंकि इसे एक शुभ कार्य समझा जाता है। इसके अनन्तर लड़कियां इन मूर्तियों को अपने माता-पिता की आय के अनुसार सुन्दर कपड़ों और आभूषणों से अलंकृत करती हैं तथा इनकी पूजा-अर्चना करती हैं। बैसाखी से कुछ दिन पूर्व लड़कियां दो टोलियों में बट जाती हैं—एक टोली गौरी (रली) की और दूसरी शंकर की होती है। चैत्र के मासान्त को लड़कियां अपने गांव व सम्बन्धियों को 'रली-शंकर' (शिव-पार्वती) के शुभ विवाह पर आमन्त्रित करती हैं। विवाह की सभी रीतियों बटना, सांद-तेल, वेद मण्डप आदि को पुरोहित के संस्कृत मन्त्रोच्चारण के साथ पूरा किया जाता है। विवाह के उपरान्त लड़कियां इकट्ठे किये हुए पैसों से आमंत्रित लोगों को प्रीतिभोज का प्रबन्ध करती हैं।

बैसाख की सक्रान्ति को तीन मूर्तियों को उठाकर लड़कियां नदी के जल में प्रवाहित कर देती हैं। महीने भर के उन पर चढ़ाए हुए फूल, दूब, पत्ते, पंखुड़ियों आदि को मूर्तियों के साथ पानी में विर्सजित कर दिया जाता है। इस अवसर पर वे रली के वियोग में रोती हैं। उनकी आंखों में अश्रुधारा फूट पड़ती हैं। उस समय मनोविनोद के लिए निकटवर्ती गांवों के लड़के नदी के पानी में डुबकी लगाकर रलियों को निकालकर लड़कियों को चिढ़ाने के लिए अपने हाथों में हिलाते हैं। इसके साथ ही रली-शंकर के जल में विसर्जन के साथ ही रली-पूजन उत्सव का समापन हो जाता है।

अस्तु लड़कियां 'रली-पूजन' द्वारा सुयोग्य वर की प्रार्थना करती हैं। रली-पूजन का एक विशेष अंग हैं—'द्रेक-पूजन' जो लड़कियों द्वारा जीवन में पुत्रवती तथा वैधव्य दोष निवारण की कामना से किया जाता है। मां पार्वती जैसी पतिव्रता तथा शंकर जैसे मंगलमय संयोग के लिए कामना करती हैं।

'कांगड़ा जनपद में देवी-उपासना'

यूनान की देव कथाओं के समानान्तर हमारी भारतीय पौराणिक कथाओं में भी मानव और देवताओं का प्रगाढ़ पारस्परिक सम्बन्ध देखने को मिलता है। दोनों एक-दूसरे के जीवन को प्रभावित करते हैं। कभी शत्रुता उभरती है तो कभी मित्रता। प्राचीन गाथाओं को जितना अधिक समझने का प्रयास करते हैं उतनी ही परिलक्षित होती है देव और मानव के बीच की विभाजक रेखा। देवता मनुष्य रूप धारण करते हैं और मनुष्य देवत्व प्राप्त करते हैं।

मानव समाज स्पष्टतः पुरुष और नारी के दो भागों में बंटता है। देववर्ग भी देवता और शक्ति के रूप में प्रकट होता है। प्रत्येक देवता की भी कोई न कोई शक्ति है जिसे हम 'माता' 'देवी' 'अम्बा' या कुछ भी अन्य नाम देते हैं। अपनी निजी शक्तियों से रहित देवता कुछ भी नहीं कर पाता। भगवान शंकर भी शक्ति (उमा) के बिना क्रिया-हीन, निस्पृहीन एवं अकिंचन से रह जाते हैं। जैसे सन्तान घर में पिता की अपेक्षा माता से अधिक घनिष्ठता स्थापित कर लेती है, उसी प्रकार भक्त भी पितृशक्ति की अपेक्षा मातृशक्ति की ओर अधिक झुकते रहे हैं। 'माता कुमाता न भवति' विख्यात है। माता आशुतोषा होती है। इसी से समूचे भारत में कष्टसाध्य उपेक्षाकारी तथा उपराम देवताओं की अपेक्षा देवी माता की पूजा अधिक प्रचलित रही है। पार्वत्य प्रदेश हिमाचल प्रदेश के प्रत्येक भाग में देवियों के मन्दिर, मेले तथा उपासना आदि न जाने कब से चले आ रहे हैं। केवल कांगड़ा जनपद में ही भिन्न नामों और गुणों वाली असंख्य देवियां हैं। उनमें से कुछ का संक्षिप्त उल्लेख यहां किया जा रहा है।

देवी के भिन्न-भिन्न नाम

कांगड़ा जनपद में शिव पूजा के साथ-साथ देवी (शिवा) पूजन भी अधिक मात्रा में प्रचलित है। इस देवी के दुर्गा, काली, गौरी, पार्वती, कालिका, माहेश्वरी, भवानी, अष्टभुजा देवी तथा असंख्य नाम हैं। हिन्दु शास्त्रों के अनुसार भिन्न-भिन्न अभिधान करने वाली नौ करोड़ दुर्गाएं हैं। अपेक्षाकृत निम्न स्तरीय शक्तियां यथा शीतला (चेचक रोग की देवी) मसानी एवं अन्य रोगों कुष्टों की अधिष्ठात्री देवियां भी उसी देवी के प्रकट रूप हैं। उसे महादेवी, महारानी, देवीमाई, या देवांमाता के नाम से पुकारा जाता

है। वह अपने मन्दिरों के नाम से प्रसिद्ध होती है या फिर वह स्थान ही देवी के गुण धर्म के अनुसार प्रसिद्ध हो जाता है जैसे ज्वालामुखी, मनसा देवी, चिन्तपूर्णी, नयना देवी आदि। केवल कांगड़ा में अगणित देवियां हैं और ऐसी मान्यता है कि कांगड़ा-मन्दिर की स्थापना के समय 360 देवियां एकत्र हुई थीं।

चिन्तपूर्णी देवी जो जिला ऊना में अवस्थित है, वर्ष में तीन मेले होते हैं। इन मेलों में पुजारी प्रचुर धनराशि अर्जित करते हैं। होशियारपुर के मण्डलान्तर्गत रजनी देवी, बिलासपुर जिला के नयना देवी नामक स्थल भी लोकप्रिय तीर्थ स्थल हैं। कांगड़ा में ब्रजेश्वरी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है चाहे अतीत में यहां महमूद गजनी और फिरोज तुग़लक द्वारा लूटपाट की गई थी, फिर भी यह समूचे भारत का प्रसिद्ध तीर्थ है। इसी जिले में प्रसिद्ध ज्वालामुखी मन्दिर भी उसी प्रकार प्रतिष्ठित है। यहां पर्वत शिला को भेदकर अनन्त काल से जल रही ज्वाला प्रकृति का दिव्य स्वरूप है। यात्रियों की भीड़ यहां दर्शनार्थ आती है और अपव्ययी व सुख लोलुप पुजारियों भोजकियों आदि को साधन जुटाती है। ज्वालामुखी देवी तेली राजा या तेलराजा भिक्षुकों की आराध्य है। ये भिक्षु अधिकतर उत्तर प्रदेश में फैले हुए हैं। यह सम्प्रदाय कांगड़ा नरेश मानचन्द्र ने चलाया था। कहते हैं कि राजा को कोढ़ हो गया था। देवी ने उसे आज्ञा दी कि वह साधु बन जाए और सपूती, सधवा हिन्दू स्त्रियों से थोड़ा-थोड़ा तेल मांगकर अपने तन-बसन में लगाता रहे। ऐसा करने से उसके पूर्वजन्म के पाप नष्ट हो गए और बारह वर्षों में वह स्वस्थ हो गया। वह कांगड़ा में वापस आया तथा अपना सम्प्रदाय चलाया। उनका पहला शिष्य श्री चन्द्र नामक ब्राह्मण बना था। दीक्षा लेने वाले को पांच रुपए या उनका कुछ गुणा दक्षिणा स्वरूप देना पड़ता था, और बिरादरी को सहभोज भी। तब शिष्य गुरु श्वास से अभिमन्त्रित शर्बत पीता था। कुछ तेली राजा हिन्दू होते हैं और कुछ सिक्ख। परन्तु ज्वालामुखी समान रूप से उनकी प्रमुख आराध्या है। वे एक पुत्र वाली हिन्दू स्त्रियों से तेल मांगकर अपने कपड़ों पर मलते रहते हैं। इनके शवों को जलाया जाता है। कुछ वैवाहिक जीवन में प्रवेश करते हैं, कुछ नहीं। तेल सिक्त वस्त्रों के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय का अन्य कोई बाह्य धर्म चिन्ह नहीं है।

देवी की अन्य कई नामों से भी कांगड़ा में पूजा होती है। रामरोही में 'झनियारी' (सम्भवतः झनयारा ग्राम से सम्बद्ध होकर) बिलासपुर में 'बिलासा' सियाल में 'भराड़ी', ज्वाली में 'जालपा', हड़सर में 'बाला सुन्दरी', वनखण्डी में 'बगुला मुखी' तथा कोटला, चामड़ा व अन्य कतिपय स्थानों में 'कोटला' नाम से देवियां प्रतिष्ठित हैं। 'झनियारी देवी' का मन्दिर राजा तेगचन्द ने, 'बिलासा देवी' का राजा दिलीपसिंह ने, भराड़ी देवी का फौजा वजीर ने, 'जालपा देवी' का गुलेर नरेश शमशेर सिंह की रानी ने, 'बाला सुन्दरी' देवी का गुलेर नरेश हरीचन्द ने तथा बगुला मुखी देवी का भी इसी राजा ने और कोटला देवी का मन्दिर अमृतसर के एक खत्री ने बनवाया था। इन सभी मन्दिरों के लिए कोई समान नियम पद्धति नहीं है। पुजारी प्रायः ब्राह्मण होता है, परन्तु जोगी या सन्यासी भी हो सकता है। मन्दिर में केवल एक मूर्ति भी हो सकती है और एकाधिक

भी तथा उनका आकार-परिमाप भी विविध होता है। पूजन विधान भी प्रचुर वैविध्य-पूर्ण है। उदाहरणतया भराड़ी देवी की पूजा केवल बैसाखी को होती है तथा उसी दिन भोग अर्पित करके ज्योति जलाई जाती है। प्रायः अन्य मन्दिरों में दीपक प्रातः एवं सांय दोनों समय जलाया जाता है। कई मन्दिरों में केवल एक ही बार ज्योति जलाई जाती है। भोग एक बार भी लगाया जाता है और दो बार भी। भोग-सामग्री में पर्याप्त भिन्नता रहती है। उदाहरणार्थ 'बाला सुन्दरी' को प्रातः फूल और सांय मिष्टान्नादि अर्पित होता है परन्तु 'जालपा' को प्रातः दाल चावल और सांयकाल में फल भेंट किए जाते हैं। 'बगुलामुखी' को प्रातःकाल स्नानोपरान्त भोग लगाते हैं और सांयकाल में आरती के पश्चात् पताशे तथा चने भेंट किए जाते हैं।

देवी किसी देवता की क्रियाशील शक्ति की द्योतक मानी जाती है। परन्तु लगपत स्थान पर 'कन्या देवी' (कुमारी शक्ति) का भवन है, जहां आषाढ़ की नवमी को मेला लगता है उसका पुजारी भोजकी होता है। और केवल संध्या समय ही वहां दीपार्पण प्रज्वल करके भोग लगाया जाता है। 'कन्या देवी' के मन्दिर में पहुंचकर जो यात्री भक्ति से ओत-प्रोत होकर सोलह प्रकार की सामग्री से उसकी पूजा करता है तथा ब्राह्मणों, साधुओं, कन्याओं और निर्धनों को दक्षिणा के साथ भोजन करवाता है, उसके यहां कन्या-रत्न की प्राप्ति होती है। यह बात तन्त्र शास्त्र के जानने वालों ने कही है।

कांगड़ा क्षेत्र में देवी के अन्य मंदिर

कांगड़ा क्षेत्र में देवी के अन्य कई मन्दिर भी हैं। 'हूरी देवी' का मन्दिर नूरपुर तह-सील के भगरोली ग्राम में है। गढ़गजनवी के राजा नागदेव के चार पुत्र तथा एक पुत्री थी। राजा भूमासुर ने नागदेव से उसकी पुत्री का हाथ मांगा। एक असुर को कन्या देना उचित न जानकर राजा ने इन्कार कर दिया और भूमासुर के प्रकोप से बचने के लिए वह सपरिवार स्वदेश त्याग कर भगरोली आ गया। उसकी पुत्री ने वहां पर एक मन्दिर बनवाने का अनुरोध किया। अतः कन्या के भाई ने यह मन्दिर बनवा दिया। कहते हैं कि यह मन्दिर गाधिराज ने द्वापर युग में प्रायः 5000 वर्ष पूर्व बनवाया था। इसी मन्दिर में वह कन्या प्रस्तर मूर्ति बन गई। अत्रि गोत्र का गुसाईं यहां का पुजारी होता है। चैत्र के नवरात्रों में मेला लगता है। मन्दिर में अष्टपार्श्वीय उत्कीर्णित मूर्ति है। साथ ही एक ठाकुर जी का मन्दिर और मकबरा है जहां एक साथ सभी की पूजा की जाती है। इन भवनों में प्रतिष्ठित प्रस्तर पिण्डियों को 'नृसिंह' (नार-सिंह) कहते हैं।

'डल देवी' (अटल देवी) एक शाश्वत शक्ति रूप में नूरपुर (कांगड़ा) में पूजी जाती है। पुजारी कौशल गोत्रीय ब्राह्मण होता है। ग्यारह पुजारी बारी-बारी से प्रबन्ध संचालन करते हैं। बैसाख की अष्टमी को मेला लगता है। नैवेद्य एवं भोग में प्रातः हलवा तथा पूरी तथा सायं को उबले चावल अर्पित किये जाते हैं। देवी चामुण्डी का मन्दिर जदरांगल में है। इसी स्थान को अन्य देशवासी चौण्डा स्थान भी कहते हैं। इस पीठ की आकृति धनुषाकार है। एक बालुतु जातीय ब्राह्मण जिसका गोत्र गौतम होता है,

पुजारी के कार्य का सम्पादन करता है। कथनानुसार इस देवी ने 'चण्ड-मुण्ड' राक्षसों का वध किया था। शिवरात्रि पर भक्तजन देवी के दर्शन करते हैं। मन्दिर में प्राय: तीन फुट लम्बे एवं डेढ़ फुट चौड़े प्रस्तर खण्ड पर देवी की मूर्ति उत्कीर्णित है। इसी पर मन्थासुर तथा रक्त बीज असुरों की आकृतियां भी हैं। चंडियाल तथा गोखर ब्राह्मणों की यह कुल देवी है और उनके यज्ञोपवीतादिक संस्कार यहीं संम्पन्न होते हैं। प्रात: पांच बबरू (मीठी पूरी) तथा सायं भुने चने का भोग अर्पित किया जाता है। मास में एक बार इस पर सिन्दूर भी लगाया जाता है।

भगवती 'कृपा सुन्दरी देवी' का बीड़ स्थित मन्दिर बीड़ भंगाल के किसी राजा ने बनवाया था। एक अवस्थी चडियाल ब्राह्मण यहां का पुजारी होता है। फाल्गुन मास में होली के बाद तीन दिन का मेला लगता है। यहां किसी भी प्रकार का भोग आदि नहीं लगाया जाता।

देवी ब्रजेश्वरी माता का मन्दिर कांगड़ा में स्थित है। लोककथानुसार एक बार ब्रह्मा ने भी यहां पूजा की थी। उनका अनुकरण करते हुए अन्य देवता भी यहां आए, परन्तु देवी के दर्शन प्राप्त न कर सके। वे वापस लौटकर ब्रह्माजी के पास पहुंचे। उन्होंने इस मन्दिर को बनवाया और देवी की प्रतिष्ठा की। धनी भक्तों ने मन्दिर का विस्तार किया और खड़गसिंह की विधवा रानी चान्द कौर ने कलश पर सोना चढ़वाया। कश्यप गोत्रीय हतूरसू, जग्गियां व हाडूकासू ब्राह्मण, व्यास गोत्रीय कर भक्तें ब्राह्मण, भारद्वाज गोत्रीय पोस्त् तथा मार्कण्डेय गोत्रीय चिलियां ब्राह्मण पुजारी व भोजकी का कर्तव्य निभाते हैं। चैत्र और आश्विन मास के नवरात्रों में यहां बड़ा भारी मेला लगता है। दिन में पांच बार दूध, फल, मिष्ठान तथा भात का देवी को भोग लगाया जाता है। ब्रजेदेवी ब्रह्मा नन्दमयी ब्रह्मविद्या के गुणों से युक्त, कल्याणकारिणी, धर्मार्थकाम दात्री शब्दब्रह्म-स्वरूपा, धर्म निष्ठा से युक्त और मनोरथ करने वाली है। मूलाधार चक्र में स्थित भग-वती कुण्डलनी में इसकी शक्ति है। हृदयानुभवगम्या है। ब्रह्मा के योनिमूल कमल तथा श्वास-निश्वास में व्याप्त है, वेदादि ग्रन्थों में बीज रूप में विद्यमान सर्वव्यापिनी तथा विचार शून्य स्थिति में सुलभ होने वाली है, शब्द, ब्रह्म नादादि में इसका विलास है और चतुष्कोण श्रीयन्त्र में जो स्थान बिन्दु विसर्ग (त्रिकुटी) का है, वही स्थान इस चतुष्कोणात्मक जालन्धर पीठ में इसका है। ब्रजेश्वरी देवी बिजली के समान चमकने वाली मूलाधार चक्र में शब्दायमान, ब्रह्मरन्ध्र निवासिनी, सदा समरसा, अनुगम्या अपने स्वरूप में विलीन, सत-चित् में विलास करने वाली और वज्रवक्षा है। यह साम् और यजुर्वेद के गूढ़तत्वों को प्रकट करने वाली, ऋग्वेद के मन्त्रों की स्वामिनी, अर्थवांगिरस सूक्त के विधान की प्रवर्त्तक, सर्वेश्वरी, कल्याणकारिणी चीनाचार (शुद्धा शुद्ध विचार शून्य) सम्प्रदाय का प्रवत्तन करने वाली, श्मशान वासिनी और सर्वार्थ सिद्ध कर्त्री है।

लौकरा, गणेश, धर्मराज, भैरवों, शेर, योगिनी, लक्ष्मी, गुरु-सिक्ख, सत्यनारायण, शीतला, धन्नाभक्त, शिव जतीश्वर, काली, सरस्वती, अन्नपूर्णा, भद्रकाली, सिंह, हाथी सूरज, त्रिपुरसुन्दरी, चण्डिका, गौरी-शंकर, हवन-कुण्ड, कंगाली, नैमिषक्षेत्र, तारा

योगिनी, बड़ाई, सुदर्शन चक्र, यज्ञ रूप, चरणपादुक. के भवन तथा एक धर्मशाला आदि देवी के मन्दिर से सम्बद्ध हैं।

कांगड़ा दुर्ग से दक्षिण की ओर एक ऊंची चट्टान पर 'जयन्ती देवी' का मन्दिर है। कहा जाता है कि इस देवी ने धूम्र लोचनादि अनेक असुरों को मारा था। बाद में यह देवताओं से पूजित और अर्चित हुई। इसके तीन रूप-महाकाली, महालक्ष्मी और महा सरस्वती हैं। ओंकार के बीज मंत्राक्षर इसका स्वरूप है। यह देवी कुलाकुल नाभक चक्र (यन्त्र) अथवा पर्वत पर क्रीड़ा करती है अथवा तन्त्र शास्त्रोक्त मुहूर्त विशेष में साधना करने वाले साधकों पर तत्काल प्रसन्न हो जाती है। यहां का पुजारी भारद्वाज गोत्रीय भोजकी होता है। विधिवत मेला तो यहां कोई नहीं लगता। परन्तु भक्तगण शिवरात्रि पर दर्शन करने आते हैं। निकटवर्ती क्षेत्र के ब्राह्मण एवं राजपूत देवी को अपनी कुल अधिष्ठात्री मानते हैं प्रातः-सायं पूजा होती है और लड्डू तथा पेड़ों का प्रसाद चढ़ाया जाता है।

कांगड़ा दुर्ग के भीतर अवस्थित अम्बिका देवी का मन्दिर पाण्डवकालीन है। सघन आत्मा से आलोकित यह देवी चिन्मयी और वाङ्गमयी है। अपनी विशिष्ट शक्तियों से संसार के मूलभूत कारणों की स्वामिनी है और श्रद्धालुओं के पाप का नाश करती है। अम्बिका देवी सुषुम्ना मार्ग से गम्य है, पूज्य, स्तुत्य तथा पराशक्ति है और द्वादश दल कमल वाले अनाहत चक्र तथा सहस्र दल कमल (इन दोनों) के मध्य में स्थित द्विदल कमल वाले आज्ञा चक्र जो सदा पूर्णचन्द्र के समान प्रकाशमान है, के द्वारा ही सुलभ है। यह देवी कटोच्च राजपूतों की कुलाराध्या है। यहां का पुजारी शाण्डिल्य गोत्रीय सरियाल ब्राह्मण होता है। पूजार्चन तथा भोग अर्पण अब नहीं किया जाता है। थियाना कला स्थान पर अंजनीदेवी का मन्दिर है। यह कल्याण कारिणी और परमतत्व का आधार है। कहते हैं कि किसी कन्या को किन्हीं अज्ञात कारणों से उसके पिता गौतम ने उसे कौमार्यावस्था में ही पुत्रवती होने का शाप दे दिया था। इससे दुःखी होकर वह वहां एकान्त में तपःसाधना करने आ गई थी। लाहौर के जमादार खुशहाल सिंह ने सन् 1843 में यह मन्दिर बनवाया था। यहां का पुजारी उदासी होता है और ज्येष्ठ मास के 20 प्रविष्टे को यहां मेला लगता है। मन्दिर में बड़ी शिला पर अंजनी की मूर्ति तथा उसे दूध से पोषित करने वाली गाय के खुर उत्कीर्णित हैं। देवी के चमत्कार से प्रादुर्भूत तीन बावलियां मन्दिर के पीछे हैं। प्रातः दूध का, मध्यान्ह में भात का तथा सायंकाल भुने चने का भोग लगाया जाता है। प्रतिदिन ज्योति भी प्रज्वलित की जाती है।

टीका बसदी (ज्वालामुखी-हमीरपुर मार्ग पर स्थित) में शीतलू महादेव का मन्दिर है। अतलस गोत्रीय गिरि गोसाईं यहां का पुजारी होता है यहां कोई मेला नहीं लगता। यहां आधा फुट ऊंची शिवपिण्डी स्थापित है।

पालमपुर में एक मन्दिर शीतला देवी का भी है। इसके एक हाथ में कलश तथा दूसरे में झाड़ू है और माथा सूर्य से अलंकृत है। देवी शीतला बच्चों के क्रूर ग्रह के

प्रभाव को शान्त करती है और फोड़े आदि भय को दूर करती है। यहां भोग आदि नहीं लगता। पुजारी एक भोजकी होता है। ज्येष्ठ एवं आषाढ़ के हर मंगलवार को मेला लगता है। 'देवी नर्वा रुर्वा' का मन्दिर कांगड़ा जिला में ही है। यहां गड़ूतरी जातीय वशिष्ट गोत्रीय ब्राह्मण पुजारी रहता है। चैत्रमास के 12 प्रविष्टे को मेला लगता है। पहले यह मेला भाद्रपद के 24 प्रविष्टे को लगता था तथा आश्विन मास तक चलता था। विशूचिका रोग से बचे रहने के लिए लोग एक-दूसरे पर पत्थर फेंकते हैं। चार बालिश्त ऊंचे तथा बीस बालिश्त परिधि के काले पत्थर पर देवी की मूर्ति अंकित है। सिन्दूर से प्रलिप्त त्रिशूल भी साथ ही दिखाया गया है। केवल संध्या समय चपाती का भोग लगाया जाता है।

'भद्रकाली' (कालिका) देवी का मंदिर समीरपुर में हैं। यहां पर भेंट, फूल, अर्घ्य और धूपादि द्रव्यों से केदारेश की पूजा करने से अभीष्ट प्राप्त होता है। यह भद्र-काली के वर का प्रभाव है। यह पानामी गुरखा ने बनवाया था। पुजारी गिरि गोसाईं होता है जिसका ब्रह्मचारी रहना आवश्यक नहीं है। उत्तराधिकार आध्यात्मिक आधार पर चलता है। वैसे पहले पुजारी के पुत्र को चढ़ावे का कुछ अंश मिलता है। आषाढ़ के 9 प्रविष्टे को मेला लगता है। पुजारी भिक्षावृत्ति पर निर्वाह करता है तथा प्रातः-सायं-काल चपाती का भोग लगाया जाता है।

'ढ़ोली देवी' का मन्दिर नूरपुर में दवाना ग्राम में है। जनश्रुति है कि 500-600 वर्ष पूर्व ढ़ोली नामिका एक राजपूत कन्या को विवाह के लिए विवश किया गया। पहले तो उसने इन्कार कर दिया। परन्तु जब अधिक जोर डाला गया तो वह इस स्थान पर भूमि में समा गई। पूजा कार्य एक अत्रि गोसाईं सम्भालता है। यहां कोई नियमित मेला नहीं लगता। प्रातः भोग लगता है और सायं देवी की आरती होती है। देवी की पत्थर पर खुदी दो फुट ऊंची मूर्ति है और साथ ही चार फुट ऊंची शिव प्रतिमा भी खड़ी है।

श्री ज्वालामुखी क्षेत्र का ऐतिहासिक महत्त्व

ज्वालामुखी नगर अति प्राचीन क्षत्रिय राजाओं के समय से आबाद है। इस नगर का नाम विश्व-विख्यात श्री ज्वालामुखी देवी के नाम पर ही पड़ा प्रतीत होता है। ज्वाला-मुखी नगर जिसकी संख्या 3300 है। उत्तर 31^{0}-25 में रेखांश तथा पूर्व में 76^{0}-21 अक्षांश पर स्थित है। एक जनश्रुति के अनुसार इस नगर में नाथपंथी सम्प्रदाय के गृहस्थी गोसाइयों के 360 भव्य भवन थे जिनमें से अधिकांश सन् 1905 के भयंकर भूकम्प की लपेट में आ गए थे और जो बच रहे हैं वह अपनी वास्तु तथा शिल्प कला की जीवन्त मूर्ति हैं। नगर की परिस्थिति इस बात का परिचय कराने में पूर्ण समर्थ है कि यहां प्रथम जंगल ही जंगल था परन्तु जगदम्बा ज्वालामुखी के प्रादुर्भाव के अनन्तर ही यहां पर मनुष्यों के निवास स्थान बने और जनसंख्या की वृद्धि इस जंगल में भी एक सामान्य नगर की स्थापना कर सकी।

श्री ज्वालामुखी की उत्पत्ति

शिवपुराण के लेखानुसार प्रसिद्ध है कि एक समय दक्ष प्रजापति जी ने एक यज्ञ किया और उस यज्ञ में सब देवताओं का पूजा निमित आह्वान किया परन्तु अपने दामाद शंकर महाराज के लिए न तो कोई पूजा में भाग ही रखा और किसी विरोध के कारण यज्ञोत्सव में बुलाया भी नहीं। पिता के ऐसा करने पर भी दक्ष पुत्री 'सती' शंकर महाराज की भार्या पति के निषेध करने पर भी पितृ-प्रेम को लक्ष्य कर अनुनय-विनय द्वारा पति की आज्ञा प्राप्त कर बिना-बुलाई उस यज्ञोत्सव में चली गई परन्तु उस स्थान पर पहुंच-कर अपने पति का स्पष्ट रूप से अपमान देखा। उसको न सहन करती हुई जलते हुए यज्ञ कुण्ड में छलांग मारकर उसने अपने शरीर को भस्म कर दिया। उस समय 'सती' के दर्शनमात्र से भय देने वाली एक ज्वाला निकलकर एक पर्वत पर पड़ी जिसे ज्वालामुखी देवी कहने लगे और सर्व कार्य सिद्धि के लिये पूजी जाने लगी।

श्री ज्वालामुखी देवी का लोगों की दृष्टि में आना

कर्ण रम्परा से पता चलता है कि जहां पर इस समय भगवती श्री ज्वालामुखी का मन्दिर है। वहां पर सर्व प्रथम जंगल था और सबसे पहले ज्योति के दर्शन एक ग्वाले

की हुए। कहते हैं कि एक ग्वाला किसी गांव की गऊएं चराने के लिए इस जंगल में आता था। जब एक शाम को गऊओं को लेकर वापिस अपने ग्राम में गया तो एक गाय के स्तनों में दूध बिल्कुल न निकला जिस पर मालिक की बुरी-भली बातें ग्वाले को सुननी पड़ी। इस बात से दुखी होकर एक दिन ग्वाले ने पूरी दृष्टि रखी कि देखें इस गाय के दूध को कौन पी जाता है। मध्याह्न समय एक गाय एक स्थान पर घास चरना छोड़ चुपचाप खड़ी दिखाई दी। ग्वाला आगे गया तो देखा कि गाय के स्तनों से दूध की धारा एक श्याम वर्ण की ज्योति पर (जो पृथ्वी से निकल रही थी) पड़ रही थी। परन्तु ज्योति बराबर जल रही थी। ग्वाला दौड़ता हुआ मालिक के पास गया और सारा समाचार कह सुनाया। मालिक कई मनुष्यों को साथ लेकर वहां गया तो देखा कि गाय तो दूध पिलाकर हट गई है। परन्तु ज्योति जली हुई है और उसके आस-पास दूध के छीटे पड़े हुए हैं। यह बात दूर तक पहुंच गई और ग्रामवासियों ने कटोच्च वंशीय भूप महाराज भूमिचन्द्र जी से सारी बात सुनाई जिसे सुनकर महाराज स्वयं उस स्थान पर पधारे और अपनी आंखों से ज्योति के दर्शन कर कृतकृत्य हुए। विद्वान ब्राह्मणों द्वारा निश्चय कराकर कि यही मंगलमयी श्री ज्वालामुखी देवी की ज्योति है। उसी समय एक मन्दिर बनाने की आज्ञा देकर स्वयं दुर्गा पूजन के लिए किसी योग्य ब्राह्मण की तलाश में लग गए।

पूजा करने वाले ब्राह्मणों की खोज

जबकि महाराज भूमिचन्द्र को पूजा करने के लिए किसी योग्य ब्राह्मण की आवश्यकता प्रतीत हुई तब कांगड़ा जनपद में किसी भी ब्राह्मण ने उपजीविकावश देवी पूजा करना स्वीकार नहीं किया तो राजा ने भोजकियों को दूर देश से मंगवाकर पूजन पर नियुक्त किया। उसी समय से ज्वालामुखी व अन्य देवियों के पुजारी भोजकी ही रहे हैं और उस समय मन्दिर की आय व प्रबन्ध क्षेत्रिय राजाओं के अधिकार में रहा। पश्चात जैसे-जैसे मन्दिर की लोकप्रियता और ख्याति बढ़ती गई वैसे-वैसे नगर की भी वृद्धि होती गई और इधर-उधर दूर-दराज से लोग आकर इस नगर में निवास करने लगे देवी के दर्शनार्थ यात्री लोग भी दूर-दूर से यहां आने लगे। यहां के पुजारियों की बहीयों के देखने से पता चलता है कि आठ-नौ वर्ष की तहरीरें राजगान यात्रियों की विद्यमान है और चार-पांच सौ वर्ष की तहरीरें तो सर्व साधारण यात्रियों की पाई जाती है, अत प्रतीत होता है कि मन्दिर एक हजार वर्ष से भी पहिले का है।

अकबर का आना

अकबर का आना मुसलमान बादशाहों के समय की एक बात बड़ी प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह ज्वालामुखी में आया और उसने परीक्षा के तौर पर कुण्ड की ज्योतिय पर लोहे के तबे जड़वाकर ऊपर से जल की नहर छोड़ दी। परन्तु ज्योतियां तवों को फाड़कर जल के ऊपर तैरने लग पड़ीं, उसके पश्चात् उसने एक सोने का छत्र चढ़ाया जो

भेंट में स्वीकार न होने पर अष्ट धातु का हो गया और आज भी पुजारियों द्वारा यात्रियों को दिखाया जाता है।

इसी बीच में हजारों की संख्या में लोग बाहर से आकर इस नगर में निवास करने लगे और गुसाईं लोग भी देश के अन्य भागों से आकर इस नगर में आबाद हुए। गुसाईं जाति के लोग व्यापार पेशा थे। उन्होंने अपने व्यापार के प्रभाव से इस नगर की रौनक बढ़ाने में बड़ी सहायता की। यहां तक कि यह नगर पहाड़ी इलाका का व्यापार केन्द्र समझा जाने लगा। गुसाईं लोग पहाड़ी वस्तुएं पशमीना आदि हिन्दोस्तान के पूर्व-दक्षिण में और उधर की वस्तुएं यहां लाकर बेचने लगे। इसी बीच सिक्खों का पंजाब में राज्य हुआ और महाराजा रणजीत सिंह लाहौर के सिंहासन पर बैठे। उसी समय यह नगर सिखों के अधिकार में चला गया और उसी के साथ-साथ मन्दिर प्रबन्ध भी उन्हीं के अधिकार में रहा। पुजारी उस समय भी भोजक जाति के लोग ही रहे। उस समय गुसाइयों के व्यापार का प्रभाव इस नगर में खूब बढ़ा हुआ था।

महाराजा रणजीत सिंह का आगमन

महाराजा रणजीत सिंह भगवती श्री ज्वालामुखी देवी के अनन्यविश्वासी भक्त थे। उसी के लक्ष्य स्वरूप उन्होंने अपने कोष से रुपया खर्च करके भगवती ज्वालामुखी के छत्र पर सोने का मुलम्मा सन् 1815 में करवा दिया था जो आज तक विद्यमान है। सिख राजाओं के समय मन्दिर के प्रबन्ध की यह दशा थी कि और-और नागरिक ठेकों तथा आबकारी के साथ-साथ मन्दिर के चढ़ावे का भी ठेका दिया जाता था और उन ठेकों को लेने का अधिकार प्रत्येक जाति के मनुष्यों को होता था। इसलिए मन्दिर के चढ़ावे का ठेका भी भोजक, राजपूत, महाजन, गुसाईं आदि यथा समय सब लेते और मन्दिर चढ़ावे के ठेके से जो आय होती थी उसमें से मन्दिर के भोग, प्रसाद व नौकरों का वेतन आदि का व्यय काटकर जो रुपया बचता था उसको धर्मार्थ बांट दिया जाता था। वह धर्मार्थ वंश परम्परागत आज तक बराबर चला आ रहा है।

सिखों के बाद जब पंजाब ब्रिटिश शासन के अधिकार में चला गया तो उस समय यह नगर भी उन्हीं के अधीन हो गया। उस समय सिखों की ओर से चौधरी गुरुचरण राजपूत मन्दिर चढ़ावे का ठेकेदार था। अंग्रेजों ने भी थोड़े दिनों तक उसी ठेकेदार के सुपुर्द मन्दिर का प्रबन्ध रखा। उस समय कदीमी पुजारी भोजक ब्राह्मणों ने अंग्रेजों की उदारता व न्यायप्रियता को देखकर लारेन्स साहिब के पास मन्दिर श्री ज्वालामुखी के पूरे अधिकार प्राप्त करने के लिए एक प्रार्थना पत्र प्रस्तुत किया जिस पर उन्हें कहा गया कि तुम अपनी कमेटी नियत करके प्रबन्ध का तरीका पेश करो तो गौर किया जावेगा; जिस पर पुजारियों ने इकट्ठे होकर एक कमेटी स्थापित करके प्रबन्ध मार्ग पेश किया। इस पर एडवर्ड लीक साहिब ने 7 सितम्बर सन् 1886 में मन्दिर के चढ़ावा व प्रबन्ध के पूरे-पूरे अधिकार भोजक पुजारियां के सुपुर्द कर दिए जो आज तक उन्हीं के अधिकार में चले आ रहे हैं, मन्दिर की उत्तरोत्तर उन्नति की जाती रही।

श्री ज्वालामुखी माता की ज्योतियों की संख्या न्यून से न्यून [illegible]
अधिक से अधिक तेरह तक हो जाती है। किसी छोटे बर्तन में दूध या पानी डालकर ज्योति के मुंह के साथ लगाने पर ज्योति उस बर्तन के अन्दर दूध या पानी के ऊपर तैरती हुई नजर आती है। ज्वालामुखी के मन्दिर में प्रमुख ज्योति को साक्षी मानकर त्रिगर्त प्रदेश कांगड़ा के महाराजा संसार चन्द और महाराजा रणजीत सिंह ने एक सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर किए थे। लगभग तीन वर्ष पूर्व स्व० श्रीमती इन्दिरा गांधी प्रधान मन्त्री ने ज्वालामुखी में स्वयं पधार कर स्वतन्त्रता सेनानी पहाड़ी कवि स्व० बाबा काशीराम की स्मृति को जनमानस में बनाए रखने के लिए उनके नाम पर विशेष डाक-टिकट का विमोचन किया था। उनके यहां आने पर इस क्षेत्र की लोकप्रियता और महत्व और बढ़ गया। अब यहां पर नोटिफाइड एरिया कमेटी है जो इस ऐतिहासिक स्थान की दयनीय दशा को सुधारने के लिए कृतसंकल्प है और यह आशा की जाती है कि निकट भविष्य में यह क्षेत्र सुन्दर बन जायेगा।

बैजनाथ धाम एवं तत् क्षेत्रान्तर्गत दर्शनीय स्थल

वर्तमान समय में तो इस स्थान को बैजनाथ (वैद्यनाथ) नाम से पुकारते हैं। यही नाम भगवान् शिवजी का है तथा इसी नाम से इस ग्राम को भी बैजनाथ कहकर पुकारा जाता है। किन्तु ऐसा समझना भूल होगी क्योंकि बैजनाथ शब्द तो भगवान् महादेव जी से मन्दिर का बोध करवाता है जो वैद्यनाथ से बिगड़ते-बिगड़ते बैजनाथ बन गया है। विश्वास किया जाता है कि यह शिवलिंग अति प्राचीन है तथा इसकी गणना द्वादश ज्योतिर्लिंगों में की जाती है। कामना पूर्ति करने से ही पुरातन मुनियों ने इस लिंग को 'कामनालिंग' कहा है। समूचे ब्रह्माण्ड में इस लिंग के समान अन्य कोई लिंग नहीं है। पुराणों में तथा 'जालन्धर-माहात्म्य' आदि ग्रन्थों में इस धाम का पूर्व नाम 'विजयनाथ' लिखा हुआ मिलता है। बाद में यह नाम वैद्यनाथ प्रसिद्ध हो गया। कहते हैं कि बहुत पहले लंकेश्वर रावण ने इस पावन स्थल पर घोर तप किया था और भगवान् शंकर की आराधना करते समय अपने सिर काट-काटकर भगवान् आशुतोष की सेवा में अर्पित कर दिए थे। उसकी पूजा से प्रसन्न होकर भगवान् शंकर ने उसके सिर पुनः जोड़ दिए थे और उसे यथेष्ट वरदान दिए थे। तभी से इसका नाम वैद्यनाथ प्रसिद्ध हो गया था। वाराणसी (काशी) के तुल्य यह धाम देव-मर्त्यों के लिए दुर्लभ है—'वाराणसीसमं क्षेत्र दुर्लभं देव-मर्त्ययोः'।

कुछ एक जनश्रुतियों के आधार पर इस ग्राम (जिसके अन्तर्गत यह पवित्र मन्दिर आता है) का नाम 'कीर ग्राम' भी रहा है क्योंकि यहां बहुत से चम्पक वृक्ष थे जिन पर प्रभूत संख्या में तोते (कीर) रहते थे। संभवतः इसी आधार पर इसे 'कीरग्राम' की संज्ञा दी गयी होगी। कुछ लोग कहते हैं कि इसका नाम कीरग्राम नहीं अपितु 'कर-ग्राम' था क्योंकि जब तीन देवों द्वारा जालन्धर दैत्य का वध किया गया था। तब दैत्य जालन्धर का दक्षिण कर (हाथ) इस स्थान पर गिरा था। अतः यह ग्राम 'करग्राम' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। किन्तु तत्कालीन शिला-लेखों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर मालूम होता है कि इसका नाम 'कीरग्राम' होना अधिक उपयुक्त और तर्कसंगत है।

इसी तरह विनोद (बिनवा) नदी के तट पर निर्मित किए गए स्नान स्थल को

क्षीर गंगा कहा जाने लगा। साधारण लोग इसे 'खीरग्राम' के नाम से पुकारने लगे। किन्तु इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि यहां पर तोतों (कीरों) की संख्या शताधिक होने के कारण इस स्थान का 'करगंगा' भी लोकप्रिय हो गया जो बाद में बिगड़ते-बिगड़ते 'क्षीरगंगा' के नाम से जाना जाने लगा।

बैजनाथ स्थित भगवान् शंकर के प्रसिद्ध मन्दिर के उत्तर-पूर्व में एक अत्यन्त रमणीक स्थान 'श्री तारा' जी का मन्दिर है। जो पहले काफी जीर्ण-जीर्ण अवस्था में था। किन्तु बाद में उस एक तपस्वी महात्मा 108 स्वामी तारानन्द जी महाराज के अथक प्रयत्नों से भक्तों को उपदेश देकर एक सुन्दर आकर्षक स्थल के रूप में परिणत कर दिया गया। मन्दिर में भगवान् तारकेश्वर की भव्य मूर्ति विराजमान है। यहीं पर शिवजी का मोक्षदायक ग्यारहवां लिंग भी है। यह स्थान 'तारापुर सिद्ध पीठ' के नाम से भी विख्यात है। इसी स्थान पर जालन्धर दैत्य के मारने से उत्पन्न पाप की शक्ति के लिए स्वयं महादेव भगवान् जी ने तारिणी देवीजी की आराधना की थी। अतएव यह स्थान अत्यन्त पवित्र है। वैद्यनाथ मन्दिर से पूर्वोत्तर कोण में कुछ ही दूर पर 'केदारेश्वर' महादेव का मन्दिर है। यहीं पर 'सिद्धिनाथ' प्राचीन मन्दिर है। अनुमानतः तथा जनश्रुति से यह मन्दिर मन्युक-आहुक के पिता सिद्ध वर्णक् द्वारा बनवाया हुआ प्रतीत होता है। 'जालन्धर पीठ दीपिका' में इसके सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है—

कूप मध्ये महेशानं सिद्धनाथं समर्चयेत् ।
उपचारैरनेकैस्तु ततः सिद्धीश्वरो भवेत् ।।

अर्थात् जो यात्री कुएं के मध्य में स्थित भगवान् सिद्धिनाथ का जप और अनेक प्रकार की सामग्री से उनकी पूजा करता है, वह स्वयं सिद्धिश्वर हो जाता है वहीं पर 'क्षीरगंगा' है। क्षीरगंगा का जल पीने से व्यक्ति को पुनर्जन्म से मुक्ति मिलती है।

मन्दिर के पश्चिम में एक खुला मैदान है। जिसमें शिवरात्रिपर्व पर एक बड़ा भारी मेला लगता है। जो छह दिन तक चलता है। श्रवण मास के प्रत्येक सोमवार को तथा अन्य पवित्र दिनों में भी यहां काफी भीड़ होती है। मन्दिर के दक्षिण में बाजार है जिसमें एक छोटा-सा तारकेश्वर का मन्दिर है। जिसका वर्णन जालन्धर महात्मय में भी किया गया है। साथ ही एक मत्स्येन्द्र नाथ जी का भी प्राचीन मन्दिर है जिसमें कई विचित्र मूर्तियां देखने को मिलती हैं।

प्रमुख मन्दिर के चारों ओर ऊंची दीवार बनी हुई है जिसके पूर्व पश्चिम और दक्षिण की ओर तीन द्वार बने हुए हैं। सामने एक पाषाण निर्मित वृषभ (बैल) खड़ा दिखाई पड़ता है। मालूम होता है कि किसी चतुर चितेरे कारीगर ने इसे बड़े सुन्दर ढंग से बनाया है। नन्दी की पीठ पर किसी प्राचीन लिपि में कुछ शब्द लिखे हुए हैं जिन्हें आज तक किसी भी भाषाविद् द्वारा नहीं पढ़ा जा सका। समीप ही राधा कृष्ण का मन्दिर भी है। तथा तीन-चार लघु मन्दिर हैं। इन लघु मन्दिरों तथा अन्य सुदृढ़ कुटीरों की परिधि में श्री वैद्यनाथ जी का पवित्र मन्दिर स्थित है। जो लगभग 150 फुट ऊंचा है और काफी विस्तृत है। मन्दिर का द्वार पश्चिम दिशा की ओर है। सामने दो वेदिकाएं

हैं जिन पर घण्टे बन्धे हुए हैं। मन्दिर की वेदिकाओं में बैठकर सैकड़ों श्रद्धालु भगवान् श्री शंकर का जप-तप तथा भजन-कीर्तन करते हैं, और सुनते हैं। कथावाचकों तथा उपदेशकों के लिए दोनों ओर ऊंचे-ऊंचे स्थल बने हुए हैं।

मन्दिर का निर्माण कौशल

श्रद्धालुगण चाहे प्रतिदिन मन्दिर के पावन दर्शनार्थ आएं, उन्हें प्रतिदिन नए-नए दृश्य ही दिखाई देंगे। मन्दिर की एक-एक ईंट पर दिखाई गयी चित्रकला अपना विशिष्ट महत्व रखती है। अनेक प्रकार की लताएं, फूल मालाएं, फल, देवता, मनुष्य, पक्षी तथा अप्सराएं, चित्रित किए गए हैं। मन्दिर के ऊपर का स्वर्ण कलश सूर्योदय के समय अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होता है। दूर से देखने पर यह चांद-सा लगता है। इसके बनाने वाले शिल्पियों ने तो चमत्कार ही कर दिया है। मन्दिर को ऊपर से नीचे तक देखा जाए तो यह तेहरा दिखाई देता है। ऐसे लगता है कि मानो तीन-चार मन्दिर इकट्ठे जोड़ दिए गये हों। मन्दिर के पृष्ठ भाग में स्थित स्फटिक मूर्ति के नीचे अद्भुत दो-तीन पंक्तियों की लिपि के विषय में अभी तक कुछ भी पता नहीं चल सका है। आगे एक बड़ी वेदिका है, फिर छोटी उनके पास ही सामने एक लघुमन्दिर में बैठे हुए वृषभ की पाषाण निर्मित मूर्ति दृष्टिगोचर होती है। इसी तरह मन्दिर की तरफ जिधर भी नजर दौड़ायें नए-नए दृश्य मन में कौतूहल उत्पन्न करते हैं।

मन्दिर के अन्दर घूमते हुए छोटी वेदिका पार करके बड़ी वेदिका के पास पहुंचने पर चारों ओर नजर घुमायी जाए तो वहां ऐसे रमणीक दृश्य दिखाई देते हैं। बड़े-बड़े पाषाण स्तम्भों एवं शिलाओं पर खुदी हुई मूर्तियां मन में विस्मय उत्पन्न करती हैं। शिलालेख भी कम आश्चर्यजनक नहीं हैं। अनूठी कारीगरी को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब कुछ एक ही पत्थर को खोदकर बनाया गया है। सन् 1905 में आए भूकम्प के भयंकर झटकों के कारण अन्य स्थल क्षतिग्रस्त हो गए थे किन्तु इस पवित्र धाम के रूप में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यह मन्दिर बहुत ऊंचे स्थान पर स्थित है। यहां का जलवायु अत्यन्त शुद्ध है। बरसात के दिनों में तो यह स्वर्ग जैसी छवि उपस्थित करता है। मन्दिर के गर्भ गृह में भगवान् शिवजी की भव्य प्रतिमा है जिसके दर्शन कर हृदय गद्-गद् हो जाता है। मूर्ति के ऊपर एक रजतमय सर्प विराजमान है। यहां भगवान् रुद्र के चरणों में बैठकर भजन पूजन एवं शिव सूक्तादि पढ़ने से इच्छित मनोकामनाओं की पूर्ति होती है। यहां पहुंचकर कई रोगियों के रोग दूर हो गए तथा बहुत से श्रद्धालुओं के बिगड़े काम बन गए। भगवान् आशुतोष के चरणों में बैठकर की गयी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती क्योंकि यही वह स्थान है जहां तपस्यारत रावण को भी सिद्धि प्राप्त हुई थी।

मन्दिर का निर्माण

इस प्राचीन मन्दिर का निर्माण कब और किसके द्वारा सम्पन्न हुआ, इसके बारे

में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके सम्बन्ध में बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो प्रमाणों के अभाव में अन्धकार में पड़ी हुई हैं। फिर कुछ एक जनश्रुतियों के आधार पर कहा जा सकता है कि मन्दिर का निर्माण पाण्डवों द्वारा किया गया था। जब वे अपने दुष्ट कौरव भाइयों द्वारा छल-कपट पूर्वक निर्वासित कर दिए जाने पर यत्र-तत्र भटकते हुए समय यापन कर रहे थे। शायद उनकी प्रेरणा पर उनके मित्र एवं कुशल चित्रकार 'मयदानव' ने अपनी मौलिक कल्पना की तूलिका के सहारे एक विशाल मन्दिर का निर्माण कर दिया हो। कुछ एक शिलालेख दूसरे प्रकार की कहानी कहते हैं। जिसके आधार पर इस मन्दिर का निर्माण दो ग्रामीण कारीगरों जिनके नाम क्रमशः ठोठुक तथा नायक थे, द्वारा किया गया था। ये दोनों कांगड़ा क्षेत्र के किसी ग्राम से वहां आए थे। कुछ लोग कहते हैं किसी "वैजू" नामक वणिए ने इसका निर्माण करवाया था। किन्तु ऐतिहासिक कसौटी पर कसने पर यह बात सत्य प्रतीत नहीं होती क्योंकि वहां संस्कृत में उत्कीर्ण हुए शिलापट पर निम्नलिखित पंक्तियां मिलती हैं---

परिपालित वास्तव्य स्तव्य निर्मल कर्मणा।
साधुना साधुना भूमिर्लक्ष्मणोनोपभुज्यते ॥
पस्य प्रेयस्य भवन्मयल्लेत्युलुल स्तपभूद्रमणी।
तस्मिन् कीर ग्रामे लक्ष्मणचन्द्रे अनुपालयति ॥
सिद्धारण्य वणिक् पुत्रो धर्मप्रवणा विहस्यितौ कृतिनौ।
ज्येष्ठोमन्युनाम कनिष्ठ मन्याहुकं प्राहुः ॥
भवतरू कुठार धारा प्रविषमतम जन्ममरण मरुलहरी।
पुरुरोह मोहहांत्री मनमितयोः शाम्भवी भक्तिः ॥
ताभ्यां शिवलिंगमिदं निरालयं वीक्ष्य वैद्यनाथाख्यम्।
पर्थ्रा सहितं विहितं रतोऽस्यात्र मंण्डयोरचितः ॥

अर्थात् इस समय इस धरती का पालन, प्रजापालन तत्पर, प्रशंसनीय निर्मल कर्म-रत एवं श्रेष्ठ गुणों से युक्त राजा लक्ष्मण चन्द्र द्वारा किया जा रहा है। जिनकी रानी का नाम भयतल्ला था। उनके शासनकाल में इस गांव में धर्म बुद्धि वाले किसी सिद्ध वाणिक के घर दो पुत्र उत्पन्न हुए थे जिनमें बड़े का नाम मन्यु तथा छोटे का राहुल था। उन दोनों के मन में भगवान् शिव के लिए शाम्भवी भक्ति उत्पन्न हुई जिससे प्रेरित होकर उन्होंने वैद्यनाथ नामक शिवलिंग को निरालय देखकर इस मन्दिर का निर्माण करवाया और साथ ही मण्डप भी बनवा दिया। इस शिलालेख के अनुसार गांव का नाम कीरग्राम शिवलिंग का नाम वैद्यनाथ, निर्माताओं का नाम मन्यक और आहुक, बनाने वालों का नाम ठोठुक, नायक तथा तत्कालीन राजा का नाम लक्ष्मण प्रन्दु स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है। यह शिवलिंग अति प्राचीन है। संभव है कि पहले भी इसका कई बार संस्कार हुआ होगा क्योंकि कई बार नीचे से खोदने पर संस्कार चिन्ह निकलते रहे थे। लिंग के अन्त का पता नहीं चल सका था।

इस मन्दिर की रचना प्रथम विक्रमी शताब्दी में हुई थी। इसका पता भी शिला-

लेख से ही प्राप्त हुआ है किन्तु बैल की पीठ पर लिखे हुए सम्वत् के अक्षरों में केवल आठ सम्वत् ही लिखा हुआ है। अतः हो सकता है कि मन्दिर का निर्माण सम्वत् आठ में हुआ हो या शिलालेख ही अस्सी सम्वत् में लिखा गया हो क्योंकि यह सम्वत् प्रशस्ति बनाने का है। प्रशस्ति भृगंगिक सूत काश्मीर निवासी राम कवि ने बनाई थी। इसलिए अनुमान किया जाता है कि इस मन्दिर को बने हुए दो हजार वर्ष से अधिक समय हो चुका है।

समीपवर्ती देवस्थान

बैजनाथ से लगभग तीन किलोमीटर पर भगवती शीतलादेवी का मन्दिर है। देवी शीतला बच्चों के क्रूरग्रह के प्रभाव को शान्त करती है। और फोड़े आदि के भय को दूर करती है। "महादेवी" बालानी ग्रह शान्तिदाम्। विस्फोटक मध्यघ्नी चशीतलां रासभासनाम्।' यहां प्रत्येक वर्ष ज्येष्ठ तथा आषाढ़ मास के हर मंगलवार को बड़ा भारी मेला लगता है। दूर-दूर से लोग आकर अपनी नयी फसल की भेंट भगवती के चरणों में अर्पित करते हैं। तथा अपनी मनोकामनाएं पूरी होने की आशाएं लेकर आते हैं। इसी रास्ते में कुछ दूर और आगे चलकर चौबीन की ओर महाकाल का मन्दिर है। यह स्थान जालन्धर पीठ के पूर्व द्वारपाल के रूप में विख्यात है। तथा यह देवालय मलिनी नदी के तट पर स्थित है। देव महाकाल त्रिनेत्र, शरण्य, समुद्र के समान नवनील वर्ण, कलिमल के हर्ता और अपार सागर को पार करने के सेतु हैं। रक्त नयन भगवान् महाकाल परमानन्द और बुद्धि के दाता, आनन्द से भरपूर, ज्ञान स्वरूप भगवती महाकाली के चरणों में अनुरक्त, भक्ति के दाता, भक्तों को संसार से पार करने वाले, विश्व के मूल कारण, पर्वतीश, शत्रु संहारक, चैतन्य के माधुर्य में मस्त और परम शिव हैं। शिव, सुरेश, सर्वेश आदि इनके नाम हैं। वे परमानन्द के दाता बुद्धि के वितरक, संसार के स्वामी, दुःख समूह के दमनकर्ता, देव बन्ध, बाघाम्बर, धारी तथा तन्त्र-शास्त्रोक्त कौलविधि से गम्य हैं। मृत्यु से भीत जनों के भय को दूर करते हैं। शत्रु संहारक है और कामदेव के संहार कर्ता है। कृतान्ताद भीतानां मरणभय नाशां परकदश।

भगवान् वैद्यनाथ से चार-पांच किलोमीटर की दूरी पर सावित्री वेणुगंगा का संगम है। संगम के निकट ही श्मशान और महाकाली का स्थान है। वहीं पर निर्मल जल वाला महाकाल सरोवर है। वहां स्नान तथा दान आदि करने से पितरों को सद्गति मिलती है और उसका जल पीने से सारी कौलविधि का ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा वहीं पर पाप-मोचक महाकाली सरोवर भी है। वहां से पास ही बड़ा अद्भुत श्वकुण्ड है, उसमें स्नान करने से कुत्ते के काटने का विष तत्काल नष्ट हो जाता है—"श्वदण्ट पुरुषस्याशु स्नान पीड़ा विनाशकः।" इसके आगे 'पल्लिकेश्वर' महादेव का मन्दिर है। यहां पर श्राद्ध करने से पितरों को शाश्वत सद्गति मिलती है "कृते श्राद्धे पितृणाम-क्षयततिः" और तत्रस्थ शिवनन्दी में स्नान करने से पुर्नजन्म नहीं होता—"शिवनद्याङ्कृते स्नाने पुनर्जन्म न विद्यते"। वैद्यनाथ के पूर्व में गणक्षेत्र नामक स्थान पर तीन सौ से अधिक प्राचीन देव स्थान हैं जो अब क्षत-विक्षत दशा में पड़े हैं केवल एक ही 'आशापुरी'

मन्दिर है जो ठीक स्थिति में है। आशापुरी में मनःकामना की प्राप्ति के लिए कौलविधि अथवा कुल सुलभ द्रव्यों से देवी की पूजा करने से मनःकामना सिद्ध होती है। यहां जप करने मात्र से जनमात्र का कल्याण करने वाली देवी शिवा तत्काल सिद्ध हो जाती है--"जपे कृते शिवा तत्र सद्यः सिद्धिकारी नृणाम्।" बैजनाथ से सात-आठ किलोमीटर की दूरी पर स्थित 'मुकुटनाथ' धीमभान अत्यंत रमणीक और दर्शनीय है।

उत्तर दिशा में बैजनाथ से लगभग बीस किलोमीटर की दूरी पर एक 'ततवानी' (ततापानी) नामक स्थान है जहां उबले हुए जल का स्रोत प्रवाहित होता है। इस स्थान तर निर्जला एकादशी के दिन बड़ा भारी मेला लगता है। ऐसा मालूम होता है कि किसी जमाने में यहां बड़े-बड़े ऋषि, महाऋषि एवं अन्य प्रभु भक्त विभिन्न स्थानों से आकर ठहरते थे और साधना करते थे। आज भी उनके आश्रम के चिन्ह तथा नामादि किसी न किसी रूप में देखने को मिलते हैं।

पारंपरिक रंगों के आइने में

सुजानपुर की होली

मौज मस्ती की इच्छा करना मानव की सहज प्रवृत्ति है। उत्सव आदि में मनोरंजन की बात सोचना इन्सान को शुरू से ही रुचता आया है। कहा गया है कि—"उत्सव प्रियाः हि मानवाः।" फिर कुदरत भी तो कुछ ऐसे अवसर और साधन जुटा देती है कि आदमी हर्षोल्लास प्रकट किए बिना रह ही नहीं पाता। उदाहरणार्थ हमारा यह ऋतु चक्र। गर्मी के दिन, तब, बरसात का मौसम और पश्चात शरद ऋतु। सर्दियों के लम्बे अंतराल के बाद कुछ दिनों के लिए ऋतु राज बसन्त का अवतरण होता है। हमारे शास्त्रकारों ने तीन प्रमुख मौसमों को छः ऋतुओं में बांट डाला और धर्मकारों ने प्रत्येक ऋतु में किसी न किसी त्यौहार अथवा पर्व का अनुष्ठान सम्बद्ध कर दिया। यही कारण है कि भारत वर्ष में धार्मिक त्योहारों का बाहुल्य है। ये त्योहार साल की गति के पड़ाव है जहां तरह-तरह के मनोरंजन हैं, आनन्द एवं उल्लास की मादकता है। उमंगोल्लास से परिपूर्ण त्योहारों एवं पर्वों की परम्परा में ऐसा ही एक प्राचीन एवं प्रसिद्ध त्योहार है— होली !

होली का यह रंगीन पर्व वास्तव में हमारी सांस्कृतिक परम्परा का सबसे व्यापक, उदार एवं उल्लासमय उत्सव है जो एक खास गर्म जोशी के साथ समस्त भारत में मनाया जाता है। होली गाना, रंग खेलना, गुलाल मलना, चंग बजाना और हुड़दंग मचाना इत्यादि अनेकानेक प्रारूप हो गए हैं हमारे इस प्राचीन पर्व के। इसमें अब अनेकों सांस्कृतिक धाराओं का संगम-सा जुड़ गया है। कदाचित् इसी संगम के फलस्वरूप होली भारतीय संस्कृति के पर्वों का प्रमाण भी कहलाती है।

होली का यह रंगीला पर्व भारत के सभी प्रान्तों में बड़ी धूमधाम और उत्साह के साथ मनाया जाता है। भारत विभिन्न जातियों और धर्मों का समुच्चय हैं। कदाचित् इसी विविधता के कारण हमारे अनेक प्रांतों में होली मनाने के तौर-तरीके अलग-अलग हैं।

हिमाचल प्रदेश एक पहाड़ी प्रान्त है। आधुनिकता की पकड़ हमारी जनसंस्कृति पर कभी इतनी दृढ़ नहीं हुई है, जैसी कि विभिन्न मैदानी प्रान्तों में है अतः होली के इस

रंगीन पर्व पर अभी भी यहां वही प्राचीन परम्परागत रंग सजीवता लिए हुए है। हिमाचल में विशेषतया कांगड़ा, नादौन, नूरपुर और सुजानपुर की होली अत्यधिक प्रसिद्ध है।

सुजानपुर में कभी राजा संसार चन्द अपूर्व उत्साह के साथ होली को ब्रज की सी होली बनाकर खेलना पसन्द करते थे। प्रजा राजा को कृष्ण तुल्य और महारानी को राधा मानकर नगर के सभी नर-नारी, आबाल-वृद्ध होली के हुड़दंग में शरीक होते थे। होली से एक सप्ताह पूर्व राज-महल में होली परिषद बैठती, जिसमें राज कर्मचारियों के अलावा शहर के गण्यमन्य भद्र पुरुष सम्मिलित होते और होली खेलेने का कार्यक्रम तय करते, रंगों का चयन किया जाता। अबीर, गुलाल, खास-खास खाद्य और खेल सामग्री जुटाई जाती। पेय पदार्थ भी राजकोष के व्यय से यथा संभव सुलभ किए जाते। होली तीन दिन तक खेली जाती थी। राजा महोदय तीसरे दिन होली खेलने निकलते थे। उस दिन सभी पुरुष-वर्ग राजा की टोली में गोपों की लम्बी पंक्ति बनता और स्त्रियां महारानी को राधा का रूप मानकर स्वयं गोपियां बनी उनका पक्ष सबल करती। दरबार हाल के नीचे स्थित एक छोटा-सा तालाब विविध रंगों से भर दिया जाता। इन रंगों के अद्वितीय सम्मिश्रण की अपनी ही खूबी होती थी जो होली की मस्ती को और भी दोबाला करती थी। खूब घात-प्रतिघात होते। राजा-प्रजा का भेद भूलकर होली का मादक वातावरण सभी के हृदयों में हर्ष और प्रेम का रंग भर देता। ऐसा प्रतीत होता मानों उत्सव की आभा सभी को सरस, सरंग और लालित्य के कानन में ले चली है। हर्षोल्लास के इस मादक वातावरण में रंगों की बौछारों के साथ ही सुरीले कण्ठ गा उठते—

ओ रंगीला छैल खेलो होरी,
ओ महाराजा रंगीला छैल खेलो होरी।
आपणे रे आपणे रे अंले मंदर में निकली
इक साउली दूजी गोरी
आज रंग में बृज में सभ रंग में
ओ रंगीला छैल खेलो होरी।

सांय को राधा कृष्ण की रंगीन झांकियां निकाली जातीं जो अत्यन्त कलात्मक ढंग से सजाई जाती थी। होली गाने वालों का एक विशिष्ट टोला झांकियो के आगे-आगे चलता था। नाचने वालों की भी खूब धूम रहती थी।

होली की इस अनुपम मौज-मस्ती में सुजानपुर टीरा का प्राकृतिक सौंदर्य अद्वितीय रंग का समावेश करता था। व्यास नदी के किनारे पर बसे सुजानपुर टीरा की प्राकृतिक छटा आज भी विशेष आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बनी हुई है। यह नगर राजा संसार चन्द के दादा घमण्ड चन्द ने 1761 ई० में बसाया था। यहां उसने कई सुन्दर भवन बनवाए। इनके पश्चात राजा संसार चन्द ने इस नगर की सुन्दरता को और भी चार चान्द लगाए।

इस नगर की प्रमुख विशेषता यहां की विशाल चौगान है। इतना बड़ा समतल मैदान पहाड़ों में अन्यत्र नहीं मिलता। नगर के बाहर व्यास नदी के किनारे नरवदेश्वर (शिव-पार्वती) का मंदिर है। इस मंदिर की दीवारों पर अनेक चित्र बने हुए हैं, जिन्हें कहा जाता है कि राजा संसार चन्द के दरबारी कलाकारों ने चित्रित किया है। इनमें कई चित्र राजा संसार चन्द और उनकी सुकेतकी रानी के हैं। कईयों में रामायण, महाभारत और भागवत के दृश्य अंकित किए गए हैं। चौगान के एक कोने में राजा संसार चन्द का बनवाया हुआ राधा कृष्ण का भव्य मंदिर है, जिसमें कृष्ण और राधा की मूर्तियां स्थापित की हुई हैं।

राजा संसार चन्द का महल सुजानपुर नगर के ऊपर की ओर एक पहाड़ी पर स्थित है। महल की ड्योढ़ी के दोनों ओर प्रहरियों के आकार की खिड़कियां बनी हुई है। महल के दाईं ओर सुजान नगर तथा इसके साथ लगते इलाकों का बहुत ही मनोहारी एवं सुन्दर दृश्य दिखाई देता है। यह दरबार हाल तथा महल अब खण्डहर रूप में ही रह गए हैं। खण्डहरों में अब घास उग आई है। महल के बाईं ओर शिव-पार्वती का भव्य मंदिर है, जहां कभी राजा संसार चन्द पूजा किया करते थे। इस मन्दिर के भित्ती-चित्र अति सुन्दर हैं। दक्षिण की ओर देवी चामुण्डा का मन्दिर है, जिसके कलश पर त्रिमूर्ति का चिह्न है। इस मन्दिर के नीचे कभी रानियों के महल थे, जो अब ढह कर खण्डहर बन गए हैं। महल के प्रांगण में ही तालाब भी है, जिसमें होली के दिन विविध रंगों का समिश्रण बनाकर राजा संसार चन्द प्रजा के साथ मिलकर होली खेला करते थे।

पर्याप्त समय तक सुजानपुर का होली मेला जिला हमीरपुर का प्रसिद्ध मेला माना जाता रहा है। परन्तु इसके विशिष्टि ऐतिहासिक महत्व को समझते हुए हमारे सहृदय एक कला पारखी मुख्यमंत्री श्री वीरभद्र सिंह जी ने इस मेले को राज्य-स्तर का पर्व घोषित किया है। और निश्चित तौर पर सुजानपुर की मानमर्यादा में उल्लेखनीय वृद्धि हो गई। यह हर्ष का विषय है कि इस वर्ष सुजानपुर की होली सही अर्थों में सजीली, रोबीली और नवेली बनकर आपके सामने आ रही है और हम समझते हैं कि इसके रूप, रंग और यौवन में ही वर्ष नवीन से नवीनता निखार देखने को मिलेगा। सरकार का यह पग सर्वथा सराहनीय है कि स्थानीय कलाकारों को प्रोत्साहन दिया जाए और लुप्त हो रही विभिन्न पारम्परिक कलाओं का पुनरुद्धार किया जाए।

कुल्लू का प्रसिद्ध देवोत्सव दशहरा

देव-भूमि कुल्लू में प्रायः हर मौसम में मेलों की धूम रहती है। फाल्गुन मास में फागली का जाच अनेक जगहों पर जुटता है, फिर वसंतपंचमी आ जाती है। होली के पश्चात् पीपल जात्रा लगती है। गर्मी के मौसम में अनेक स्थानों पर मेले लगते हैं, जिनमें थिरशू, कायका, जागरा, भूण्डा, दियाली इत्यादि प्रसिद्ध हैं। मगर इन सब में अधिक लोकप्रिय और सब मेलों का सरताज है—कुल्लू का दशहरा।

यों तो विजयदशमी का उत्सव भारतवर्ष में विभिन्न स्थानों पर खूब शानबान से मनाया जाता है, मगर कुल्लू का दशहरा अपने ढंग का निराला ही उत्सव है, जिसके कारण यह सुन्दर स्थल आज न केवल भारत में ही बल्कि कई यूरोपीय देशों में ख्याति हासिल कर रहा है। तभी तो आए वर्ष विदेशी पर्यटकों की बढ़ोतरी होती जाती है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज से तीन सौ तीस वर्ष पूर्व कुलान्तपीठ में वैष्णव मत का आविर्भाव हुआ। 16›7 ई० तक यहां का जनजीवन नाथ सम्प्रदाय के लोगों से प्रभावित था। जिन दिनों समस्त भारतवर्ष में हिन्दू धर्म का पतन हो रहा था, सामाजिक स्थिति बिगड़ रही थी, देवी-देवताओं पर से लोगों का विश्वास उठ रहा था और एक तरह से आस्थाहीन होकर वे भटक रहे थे, निश्चय ही वह समय हमारे इतिहास का मध्ययुग था जिसका प्रारम्भ मुसलमानों के आक्रमणों के साथ हुआ और जिसका प्रसार अंग्रेजों के आगमन तक जारी रहा। इस युग में हिन्दू जाति पराधीन रही और वह युग हमारे इतिहास का निहायत नाजुक दौर रहा है। ऐसी विकट बेला में महाकवि श्री तुलसीदास ने रामचरितमानस द्वारा देश के विभिन्न भागों में "रामचन्द्रजी की जय" बुलाई और निराश हृदयों में फिर से आशा की चिंगारी प्रज्वलित की। कदाचित् उसी का सद्प्रभाव परोक्ष रूप से यहां भी आ पहुंचा होगा।

कुल्लू राज्य में राम भक्ति का प्रादुर्भाव अत्यन्त नाटकीय ढंग से हुआ। ब्रह्म-हत्या के 'कुफल' से सन्तप्त राजा अपने राज-देवता पुजारी से आस्थाहीन हो चुके थे। प्रायश्चित-निमग्न वह इस टोह में थे कि प्रकाश की किरण दिखे तो कुष्ठरोग दूर हो। अन्तत, एक बैरागी साधु श्री कृष्णदास बिहारी ने हताश हो रहे राजा को सही मार्ग

बताया—"यदि आप इस आंचल में वैष्णव धर्म की नींव डालें और अयोध्या से श्री रघुनाथ जी की मूर्ति मंगवाएं, तो आपकी ब्रह्म हत्या टल जाएगी···।" इस कठिन कार्य-सिद्धि के लिए श्री दामोदर दास जी को अयोध्या भेजा गया और राम-मूर्ति यहां लाई गई। सुलतानपुर में रघुनाथ जी की प्रतिष्ठा की गई। इसके तुरन्त बाद राजा स्वस्थ हो गया, जो रघुनाथ जी की शक्ति का प्रबल चमत्कार था। बस फिर क्या था—राजा, राजा न रह कर राम-भक्त हो गये और समस्त कुल्लू राज्य रघुनाथ जी के हवाले किया गया। तब से लेकर कुल्लू राजवंश रघुनाथ जी का उत्तराधिकारी हो गया और राजा छड़ी-बरदार बना। अतः इस प्रकार यहां राम राज्य और वैष्णव धर्म की नींव पड़ी।

धार्मिक तथा सांस्कृतिक पक्ष

रघुनाथ जी वर्ष में केवल चार बार राज मंदिर से बाहिर आते हैं—वसंतपंचमी के उत्सव पर, व्यास तट पर जल-विहार और वन-विहार के लिये तथा चौथी बार दशहरा के अवसर पर। प्रथम तीन बार रघुनाथ जी की सवारी प्रातः मन्दिर से निकलती है और शाम को लौट जाती है। मगर दशहरा में रघुनाथ जी सुलतानपुर से ढालपुर आकर शिविर में विराजते हैं और छः सात दिन वहीं दरबार लगता है। यात्रा से पूर्व विभिन्न प्रकार के आयुधों की प्रतिष्ठा की जाती है। घोड़ों को खूब सजाया, संवारा जाता है। इस प्रक्रिया को परम्परा से यहां "घोड़ पूजा" कहा है और तब रघुनाथ जी सोने से अलंकृत पालकी में आसीन होते हैं। राजा कुल्लू स्तुति-मग्न, प्रसन्न मुद्रा में जलूस के साथ-साथ धीमी गति से चलते हैं। राज पुरोहित, बाजे-गाजे वाले तथा नगर के शिष्टजन यात्रा में शामिल होते हैं। इन सब के पीछे-पी असंख्य नर-नारी तथा बच्चे भी जलूस की शोभा बनते हैं तथा अपने में एक अलौकिक गौरव अनुभव करते हैं।

जिस दिन देश के अन्य भागों में दशहरा का उत्सव समाप्त होता है, कुल्लू में उस रोज "विजय दशमी" का उत्सव शुरू होता है। मेला रघुनाथ जी की यात्रा से आरम्भ होता है और सात दिन तक रहता है। देवदारू से बना दिलकश रथ चौगान के उत्तर-पूर्वी कोने मैं पड़ा रहता है। आज इसे रेशमी आभूषणों से सजाया जाता है। रघुनाथ जी की पालकी जब सुलतानपुर से ढालपुर पहुंचती है तब सूर्य पर्वतों की ओट में आ गया होता है। रथारोहण से पहले वेदोक्त रीति से राम और सीता की मूर्तियों की आरती उतारी जाती है। विद्वान लोग संस्कृत में मंत्रोच्चारण करते हैं, मगर भाव-विभोर अनपढ़ नरनारी तुलसीदास जी का यह पद गाकर महिमा अभिव्यक्त करते हैं—

सियाराममय सब जग जानी, करहुं प्रणाम् जोरि युग पानी।

अब शंखनाद होते ही, निश्चित मुहूर्त्त में, रथ कैंप के लिए प्रस्थान करता है। सहसा असंख्य ढोल, नगाड़े, तुरही, नरसिंगे, घण्टे-घड़ियाल एक साथ बज उठते हैं। "रघुनाथ जी की जय," "माता जानकी की जय" के जोशीले नारों से घाटी गूंज उठती है। सैकड़ों पुण्यार्थी रथ खींचने में सहयोग देते हैं, सुन्दर आभूषणों में सजी स्त्रियां पुष्प वर्षा करती हैं। एक विराट जन समुदाय और विचित्र संगीतमय जनरव चौगान की ओर उमड़

पड़ता है। इस अवसर पर देशीय एवं विदेशीय पर्यटकगण, पत्र-पत्रिकाओं के प्रतिनिधि और छविकार अपने-अपने कैमरे सम्भाले जलूस के चित्र खेंचने में होड़ लेते हैं। विगत कुछ वर्षों से पर्यटक लोग "मूवीकैमरा" भी साथ लाने लगे हैं। शिविर के पास आकर महाराज जी की सवारी उतरती है।

शिविर में चलने वाला कार्यक्रम

जिस प्रकार सुलतानपुर के राजमंदिर में रघुनाथ जी की पूजा होती है, ठीक उसी पद्धति को कैम्प में भी अपनाया जाता है। प्रातः पूजा के पश्चात् महाराज स्नान करते हैं, तब दीर्घ पूजा होती है। राजा भोग लगाते हैं, तब महाराज शयन करते हैं। तीसरे पहर में वे कमलहस्त धारण करके "दरबारे-आम" करते हैं, जिसमें तीन सौ से अधिक देवी-देवता बारी-बारी सभासद बन कर विराजमान होते हैं और महाराज का अभिनन्दन करते हैं। शेष समय में ये देवी-देवता अपनी पदवी अनुसार चौगान में उचित स्थान पर निवास करते हैं। उनके संग आये पुजारी, गुर, कारदार, बाजे वाले सभी को "महाराज" की ओर से खाद्य सामग्री सुलभ की जाती है। विगत कुछ वर्षों से यह कार्य राज्य सरकार के अनुदान द्वारा सम्पन्न हो रहा है, जिसका नियंत्रण स्थानीय दशहरा समिति करती है।

दरबार के समय रघुनाथ जी का कमलहस्त धारण करना शास्त्रीय परम्परा का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति का एक महत्वपूर्ण अंश वैष्णवों की देन है। "कमल" से उत्पन्न "कमला" विष्णु की शक्ति होने के नाते वैष्णव कला और कल्पना की भी शक्ति हुई। फिर "कमल" विष्णु के चार आयुधों में से एक है। अतः महाराज का यहां कमलासनारूढ़ होना वैष्णव परम्परा का एक पुण्य प्रतीक है। जब देवी-देवता तथा उनके अनुचर, "महाराज" के दर्शन कर चुकते हैं तो वे अपने मित्रों और सम्बन्धियों का आतिथ्य ग्रहण करते हैं। वर्ष के आखिर में ही तो इस दोस्ताना मुलाकात का दुर्लभ संयोग सुलभ होता है।

चार पांच दिन यही क्रम जारी रहता है। छटे रोज मैदान में पधारे देवी-देवताओं की सूची तैयार की जाती है और उन्हें एक विशेष सम्मान सहित शिविर में बुलाया जाता है। स्थानीय भाषा में इसे "मुहल्ला" की रसम कहा जाता है। इस दिन ढालपुर मैदान की शोभा वस्तुतः दर्शनीय होती है। आज तक दूर-दूर के देवता भी आ चुके होते हैं और मेले की रौनक चारगुनी लगती है। मुहल्ला के उल्लासमय रंगीन दृश्य को शब्दबद्ध कर पाना सरल नहीं है। वैसे भी ढालपुर का यह मैदान समस्त कुल्लू घाटी का मुकुट है। प्रदेश के किसी अन्य भाग में इतनी ऊंचाई (4200 फीट) पर ऐसा सुन्दर एवं खुला चौगान कदाचित् अन्यत्र नहीं है।

शिविर समाप्ति

सातवें दिन, विजयपूर्णिमा को रघुनाथ जी का कैम्प उठता है। वे रथारूढ़

होकर चौगान के दक्षिणवर्ती छोर व्यास-तट की चढ़ाई करते हैं, जहां "पंच बलि" की जाती हैं। ये पांच पशु हैं—भैंसा, मेंढ़ा, सूअर, मछली और मुर्गा, जिन्हें राजा कुल्लू स्वयं कटार द्वारा काटते हैं। एक धारणा के अनुसार यह पशुबलि "मां काली" को संतुष्ट करने के निमित दी जाती है। स्वयं रघुनाथ जी किसी प्रकार की बलि के इच्छुक नहीं हैं। जनश्रुति है कि एक बार राजा ने पंचबलि की रसम अदा नहीं की थी, जिसके फलस्वरूप समस्त कुल्लू आंचल में लोगों को विभिन्न प्राकृतिक प्रकोपों का सामना करना पड़ा था। तब से यह रसम इस उत्सव का एक अनिवार्य अंग बन गई है।

लंका दहन और रथ की वापसी

जिस समय इधर पंच बलि हो रही होती है, ठीक उसी समय निकटवर्ती "लंका टापू" (व्यास तट पर एक सुरक्षित खास स्थान) में 'लंका दहन' होता है। वहां से एक दूत योद्धा "रावण" का शीश लेकर कैम्प की ओर दौड़ता हुआ दिखता है। ज्यूं ही वह चौगान में प्रविष्ट होता है, रघुनाथ जी का रथ कैम्प की ओर मुड़ता है। विजय उल्लास में गगन भेदी नारों से आसमान भर जाता है और एक अलौकिक शान एवं समारोह से रथ कैम्प के निकट आकर रुकता है, जहां से सीता जी की मूर्ति को रघुनाथ जी ग्रहण करते हैं। अब तक लंका टापू से भागा हुआ वह दूत दशानन का शीश लेकर यहां आ पहुंचता है, राजा उसे एक रुपया इनाम देते हैं। इसका आशय यह होता है कि राम ने रावण का हनन करके विजय पाई और सीता माता को उस अधर्मी के चंगुल से मुक्त कराया।

दशहरा का प्रमुख लक्ष्य, निस्संदेह रघुनाथ जी को सत्कारना ही है, मगर धर्म साधने के साथ-साथ यहां के श्रमजीवी, धर्म भीरु पहाड़ी लोगों ने जिन्दगी की खूबसूरती को हमेशा कायम रखा है। स्वभावत: इस आंचलीय लोक जीवन के सौन्दर्य की सुदृढ़ भित्ति यहां कि लोक कला है। प्राचीन लोक गीत तथा लोक नृत्य विभिन्न मेलों (जात्रों) के माध्यम से आज अक्षुण्ण चले आ रहे हैं। दशमी उत्सव पर इस कला को प्रदर्शित करने का और भी सुभीता रहता है। मेला यहां का प्रतीक है—खेल तमाशों का, खुशियों का, नाच गानों का, आपसी मेल-मिलाप का, कुछ बेचने और कुछ खरीदने का! यहां के श्रम-साध्य जीवन में मेला और नृत्य एक ही वस्तु के दो नाम हैं। नाचना, गाना हर युवक तथा युवती का सहज धर्म है। वह कोई अभागा ही होगा जिसे इस देवोचित्त क्रीड़ा में रुचि नहीं। अत: दशहरे की मादक पवन नाचने वालों के अंग-अंग में एक अनिर्वचनीय गुदगुदी उत्पन्न कर देती है। फिर घाटी के सबसे बड़े देवता की छत्रछाया में नाचना एक पुण्य उपलब्धि नहीं तो और क्या है? दशहरा में यहां की अछूती कला का आनन्दवर्द्धक दर्शन होता है।

नाटी यहां का प्रमुख नृत्य है। यह कभी-कभी तो 24 घण्टे तक भी जारी रहता है। अपने-अपने ग्राम देवता के समक्ष बीसियों व्यक्ति गोलाकार में शृंखलाबद्ध होकर झूम-झूम कर नाचते हैं। साजों के शब्दानुसार नर्तकों के पांव आगे और पीछे गति लेते

हैं। नर्तकों का कुछ भाग मुक्त कण्ठ से गीत गाता है, और दूसरा भाग उन्हीं शब्दों की पुनरावृत्ति करता है। शहनाई-वादक गीत की तर्ज निकालते हैं और एक अनुपम स्वर लहरी से वातावरण गूंज उठता है। न केवल नाचने गाने वाले ही बल्कि दर्शक भी झूम पड़ते हैं। और उनके पांव ताल निबद्ध हो कर स्वतः थिरक उठते हैं। अपार जनसमुदाय को सामने पाकर नर्तक सब सुध विसर जाते हैं। वे भूल जाते हैं अपने जीवन की कुण्ठाओं को, उग्र विषमताओं को, अपने अभावों तथा वेदना भरी समस्याओं को, और हम पाते हैं कि विस्मृति के ये क्षण उन्हें कितने देव दुर्लभ प्रतीत होते हैं। इस नृत्य मण्डप के बाहर कोई-कोई साधु महात्मा भी, यदाकदा, झांकता दिख जाता है और यदि आप उसकी प्रतिक्रिया भांपना चाहें तो झट तुलसीदास के इस दोहे का उच्चारण सुनने को मिलेगा—

करौं कहां लगि राम बड़ाई, राम न सकहिं नाम गुन गाई।

(रामचरित मानस)

अर्थात् संतगण भी ईश्वर की विचित्र रामलीला का निरूपण इन हंसते गाते और नाचते लोगों की मुखाकृतियों, भावभंगियों, स्वर ताल निबद्ध गीतों को देख सुन कर इन शब्दों में करते हैं—

जनम जनम मुनि जतन कराहीं, अन्त राम कहि आवत नाहीं।

(रामचरित मानस)

व्यापारिक महत्व

हाथ की कती तथा बुनी ऊनी और पशमीनी शालें, कम्बल, पट्टू, स्वेटर, जुराबें, दस्तानें, पूलाएं विशुद्ध लोक शैली की कुलवी टोपियां इस वार्षिक उत्सव पर बिकने आती हैं। इन्हें बेचकर ये ग्रामीण लोग अपने दैनिक उपयोग की अनेकों वस्तुएं— स्टील, पीतल, ताम्बा इत्यादि के बर्तन, सूती तथा रेशमी वस्त्र खरीद कर ले जाते हैं। सेब, पर्सिमन (जापानी फल), अखरोट आदि फलों के लिए दशहरा पर खासी मारकेट मुहैया होती है। मण्डी सुकेत के पशु व्यापारी गाय और बैलों की मण्डी लगाते हैं। आज से आधी शताब्दी पूर्व लाहौल व स्पिति के व्यापारी तिब्बत से बढ़िया ऊन और पशम लाकर बेचते थे और लाखों की ट्रेड करते थे। वे लोग घोड़ों पर बर्फानी इलाकों को सब प्रकार की सामग्री इसी मौके पर खरीद कर ले जाते थे। अब तिब्बत के साथ व्यापार सम्बन्ध बन्द हैं। कुल मिलाकर दशहरा पर लाखों की तिजारत होती है।

प्रशासन के विभिन्न विभागों के विकास संबंधी कार्यक्रम का दिग्दर्शन भी मेला में कराया जाता है। इस मतलब के लिए अनेकों प्रदर्शनियां आयोजित की जाती हैं। उद्योग विभाग तथा कृषि विभाग वालों की नुमाइशें विशेष रूप से उपयोगी एवं लाभप्रद सिद्ध हुई हैं। किंचित विकासशील कृषि पंडितों की प्रतियोगिताएं भी होती हैं और जीतने वालों को यथेष्ट पुरस्कार और प्रोत्साहन दिया जाता है। इस प्रकार इस ऐतिहासिक पर्व का आधुनिकीकरण होता जा रहा है।

निश्चय ही यह तपोनुकूल देवभूमि सर्वत्र राममय है और यह उत्सव यहां की विशुद्ध लोक संस्कृति को रामराज्य की मधुर कल्पना का लक्ष्य बिन्दु प्रदान करता है।

○○○